**Only for Private Circulation**

# टिळक महाराष्ट्र विद्यापीठ

गुलटेकडी, पुणे-४११०३७

## दूरशिक्षण विद्याशाखा

# भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र एवं आलोचना

H-103

## मार्गदर्शक पुस्तिका

एम. ए. हिंदी - भाग १

# प्रस्तावना

दूरशिक्षा की व्याप्ती असीम है । इसने उन लोगों के लिए शिक्षा के द्वार खोल दिए हैं, जिन्हे उच्च शिक्षा का मौका नकारा गया । आज जब कि ग्यान का लगातार बढना समय के साथ रहेने के लिए अनिवार्य है, दूर शिक्षा तेजी से होते तकनिकी विकास की सहायता से सभी सीमाएं लांघ रही है। छात्र भले ही दुरी पर हों हमारें विद्वान प्राध्यापकों द्वारा रचित अध्ययन साहित्य उनको शिक्षा का एक परिपूर्ण अनुभव देगा।

एम.ए. हिंदी भाग १ का अध्ययन साहित्य आपको सौंपते हुए हमे बहुत खुशी हो रही है। इस वर्ष आप कुछ चुनिंदा लेखक और कविओं की रचनाओं की सहायता से आधुनिक गद्य तथा प्राचीन काव्य की झलकियों का अध्ययन करेंगे। विशेष साहित्यकार की भूमिका में आप उपन्यासकार प्रेमचंद की कुछ रचनाओं की जानकारी लेंगे। इसी के साथ आपको भारतीय एवं पाश्चात्त्य साहित्यशास्त्र से तथा आलोचना के तांत्रिक अंगों से भी परिचित किया जाएगा।

हमें पुरा विश्वास है कि यह अध्ययन साहित्य आपके अध्ययन में आपकी सहायता करेगा तथा परीक्षा में आपका सही मार्गदर्शन करेगा। हमे यह भी आशा है कि इस साहित्य के कारण आपमें प्राचीन काल के काव्य, आधुनिक गद्य तथा प्रेमचंदजी की अन्य साहित्य कृतियों के प्रति रुचि उत्पन्न होगी। साहित्यशास्त्र और आलोचना का अध्ययन आपमें साहित्य का परीक्षण करने की क्षमता को जागृत करेगा ।

हम विद्यापीठ के मा. कुलगुरू डॉ. दीपक तिलक, दूरशिक्षण विद्या शाखा के अधिष्ठाता श्री. रत्नाकर चांदेकर तथा कुलसचिव डॉ. उमेश केसकर इनके आभारी हैं जिन्होने हर कदम पर हमें प्रोत्साहित किया तथा हमारा मार्गदर्शन किया ।

अपनी व्यस्तता से समय निकालकर इस अध्ययन साहित्य को तय्यार करनेवाले डॉ. रजनी रणपिसे के प्रति भी हम बहुत आभारी हैं ।

आप सभी को हार्दिक शुभकामनाएँ ।

*प्रा. नीलिमा मेहता*
*विभागप्रमुख, दूरशिक्षण विद्याशाखा*

# प्रास्ताविक

**डॉ. रजनी रणपिसे**

हिंदी साहित्य के अध्ययनार्थ जो छात्र प्रवेश लेते हैं उनके सम्मुख जो चार प्रश्न पत्र होते हैं उनमें से एक प्रश्नपत्र है 'भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य शास्त्र एवं आलोचना' हिंदी गद्य-पद्य की विधाओं के अध्ययन जैसा अध्ययन उस प्रश्न पत्र के संदर्भ में अपेक्षित नहीं। यह काव्यशास्त्र या साहित्य शास्त्र के स्वरूप में बँधा पाठ्यक्रम है। इस विषय का अध्ययन गंभीरता एवं गहराई की अपेक्षा करता है।

इस अध्ययन सामग्री में भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य शास्त्र के विकास को एवं उनकी परंपराओं को स्पष्ट किया है। भारतीय रस सिद्धांत, अलंकार सिद्धांत, रीति सिद्धांत आदि का विवेचन सोदाहरण किया है। रीति और शैली तथा ध्वनि सिद्धांत का विवेचन किया है। भारतीय साहित्य शास्त्र के अंतर्गत जितने महत्वपूर्ण सिद्धांत हैं, जो निर्धारित पाठ्यक्रम में हैं उनपर प्रकाश डालकर उनका विवेचन यहाँ किया गया है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का विकास क्रम, उसका संक्षिप्त परिचय भी दिया है। पाश्चात्य चिंतकों ने काव्य चिंतन की एक धारा को जन्म दिया है। अरस्तू, प्लेटो, लोंजाइनस, द्वारा निकली चिंतन धारा का विश्लेषण इस में है। भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य के अंतर्गत जो चिंतनधाराएँ हैं उनको तुलनात्मक दृष्टि से देखा गया है। दोनों में साम्य एवं वैषम्य के भाव को देखा है। अभिव्यंजनावाद, कक्रोक्ति, प्रतीकवाद, संरचनावाद आदि महत्वपूर्ण सिद्धांतों एवं विविध साहित्यिक वादों पर प्रकाश डाला गया है।

आलोचना के संदर्भ में विविध प्रकार की आलोचनाएँ और साहित्य जगत् में उनकी उपादेयता को रेखांकित किया है। इसी बहाने विविध आलोचनाएँ एवं आलोचकों के गुण एवं विशेषताओं को रेखांकित किया है। हिंदी साहित्य जगत् में जितनी भी आलोचना पद्धतियाँ हैं उनका विश्लेषण करने का प्रयास यहाँ किया गया है। छात्रों के लिए अंत में ग्रंथों की सूचि दी है उन ग्रंथों के आधार पर छात्र अधिकाधिक गहराई के साथ अध्ययन कर सकते हैं। संदर्भ पुस्तकों की सहायता लेकर छात्र अंत में दी हुई प्रश्न टिप्पणियाँ एवं दीर्घोत्तरी प्रश्नों के उत्तर लिखने के लिए विविध बिंदुओं का सूक्ष्म अध्ययन अपेक्षित है। एक चिंतन धारा के पक्ष और विपक्ष में जो मतमतांतर हैं उनके साथ छात्र परिचित हो ऐसी अपेक्षा भी है - संदर्भ ग्रंथों में विद्वजनों के मत उद्धृत होते हैं इसलिए संदर्भ ग्रंथों का अध्ययन भी अवश्यंभावी है।

# अनुक्रम


| क्र. | पाठ | |
|---|---|---|
| 1. | भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र एवं आलोचना | |
| | भारतीय साहित्यशास्त्र (काव्य शास्त्र) के विकास क्रम का संक्षिप्त परिचय | 6 - 9 |
| | रस सिद्धांत | 9 - 12 |
| | साधारणीकरण | 12 - 14 |
| | करूण रस की आस्वाद्यता | 14 - 15 |
| | अलंकार सिद्धांत | 15 - 17 |
| | रीति सिद्धांत | 17 - 21 |
| | ध्वनि सिद्धांत | 21 - 23 |
| | शब्द शक्ति के भेद | 24 - 25 |
| | ध्वनि सिद्धांत का महत्व | 25 - 26 |
| | वक्रोक्ति सिद्धांत | 26 - 30 |
| | औचित्य सिद्धांत | 30 - 34 |
| 2. | पाश्चात्य काव्य शास्त्र | |
| | पाश्चात्य साहित्यशास्त्र (काव्य शास्त्र) के विकासक्रम का संक्षिप्त परिचय | 34 - 37 |
| | अरस्तु के काव्य सिद्धांत | 37 - 39 |
| | विरेचन सिद्धांत | 39 - 39 |
| | लोंजाइनस | 39 - 40 |
| | उदात्त के अंतरंग तत्व / बहिरंग तत्व | 40 - 42 |
| | गरिमामय रचन विधान | 42 - 42 |
| | काव्य में उदात्त का महत्व | 42 - 43 |
| | यथार्थवाद | 43 - 45 |
| | आदर्शवाद | 45 - 46 |
| | अभिव्यंजनावाद | 46 - 50 |

| | | |
|---|---|---|
| | अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति सिद्धांत | 50 - 52 |
| | प्रतीकवाद और बिंबवाद | 52 - 56 |
| | सप्रेशण सिद्धांत | 56 - 57 |
| 3. | संरचनावाद | 58 - 62 |
| 4. | आलोचना | 63 - 64 |
| | आलोचक के गुण | 64 - 65 |
| | आलोचना के प्रकार | 65 - 66 |
| | हिंदी आलोचना की प्रवृत्तियाँ | 66 - 68 |
| | सौष्ठववादी एवं स्वच्छंदतावादी आलोचना | 69 - 77 |
| | मनोविश्लेषणवादी आलोचना | 77 - 83 |
| | मार्क्सवादी या प्रगतिवादी - आलोचना | 84 - 90 |
| | रसवादी आलोचना | 90 - 96 |
| | शैली - वैज्ञानिक आलोचना | 96 - 101 |
| | शास्त्रीय आलोचना | 101 - 102 |
| | अन्वेषण एलं अनुसंधानपरक आलोचना | 102 - 103 |
| | नयी समीक्षा - प्रयोगवाद, अतियथार्थवाद, अव्यक्तिवाद | 103 - 110 |
| | प्रभाववादी आलोचना | 110 - 111 |
| | चरितमूलक आलोचना | 111 - 112 |
| | ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आलोचना / मिथकीय आलोचना | 112 - 115 |
| | समन्वयवादी आलोचना | 115 - 121 |
| 5. | प्रश्नमंजुषा | 122 - 124 |
| 6. | संदर्भग्रंथ | 124 - 125 |

# प्रश्नपत्र - 3

# भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र एवं आलोचना

## भारतीय साहित्यशास्त्र (काव्य शास्त्र) के विकास क्रम का संक्षिप्त परिचय

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा का प्रारंभ आदि आचार्य भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' से होता है। नाट्य शास्त्र का रचनाकाल एवं संकलनकाल 300-200 ई. स. पूर्व माना गया है। 'नाट्य शास्त्र' नाट्य विधानों का आदि विश्वकोश है। उसे 'पंचम वेद' के रूप में घोषित किया गया है। उसमें अभिनय आदि के साथ-साथ काव्यशास्त्रीय अंगों रस, गुण, दोष, अलंकार तथा छंद पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। आचार्य भरत ने आठ रस एवं चार अलंकार बताए हैं।

इसके उपरांत जिन्हें आदि काव्य शास्त्र के प्रणेता माना जाता है, वे हैं आचार्य भामह। उन्हें अलंकारवाद के प्रवर्तक भी माना जाता है। उनका काव्यशास्त्रीय प्रबंध काव्यालंकार है। आचार्य भामह ने शब्दार्थ को काव्य कहा है। संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश ऐसे त्रिविध काव्य का निरूपण भी उन्होंने किया है। काव्यालंकार में उन्हेंने प्रथम बार काव्य साधन, काव्य-प्रशंसा, काव्य प्रयोजन का निरूपण किया है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश ऐसे **त्रिविध काव्य** का निरूपण भी उन्होंने किया है। काव्यालंकार में उन्होंने प्रथमबार **काव्य साधन, काव्य-प्रशंसा, काव्य प्रयोजन** का निरूपण किया हैं।

इनके बाद आचार्य **दंडी** का नाम आता है। ये आचार्य और कवि दोनों थे।

'काव्यादर्श' उनका काव्य शास्त्रीय प्रबंध है। आचार्य दंडी द्वारा चर्चित अलंकारों की संख्या 38 हैं। उनमें से चार शब्दालंकार हैं, शेष अर्थालंकार। वे दोष को काव्य की विफलता का कारण बताते हैं। गुण को काव्य की समृद्धि का कारण बताते हैं।

आचार्य दंडी के बाद आचार्य वामन का नाम आता है, वे रीति संप्रदाय के संस्थापक हैं।

**काव्यालंकार सूत्रवृत्ति** : उनका सूत्र शैली में लिखा काव्य शास्त्रीय प्रबंध है। इन्होंने काव्य के दो भेद माने हैं - गद्य तथा पद्य। काव्य साधन पाँच माने हैं। वे मुक्तक काव्य को हेय दृष्टि से देखते हैं। अलंकार-विवेचन में आचार्य वामन की देन अविस्मरणीय है। उनके द्वारा विवेचित अर्थालंकारों की संख्या 28 हैं। 'रीति' को उन्होंने काव्य की आत्मा माना है और उसके तीन भेद माने हैं।

आचार्य वामन के बाद एक मेधावी आलोचक एवं सरस काव्यकार के रूप में आचार्य उद्भट का नाम आता है। अलंकार विवेचन प्रस्तुत करने वाला उनका एक ग्रंथ 'काव्यालंकार सारसंग्रह' है। इनके द्वारा विवेचित अलंकारों की कुल संख्या 41 हैं। कुछ अलंकारों को आचार्य उद्भट ने प्रतीयमानार्थ के रूप में भी उपस्थापित किया है।

आचार्य वामन के बाद एक सुलझी समन्वयवादिनी एवं पूर्वग्रह मुक्त दृष्टि लेकर आचार्य रूद्रट आए।

काव्यालंकार उनका प्रौढ़ काव्य शास्त्रीय प्रबंध है। आचार्य भरत के पश्चात 'रस' का व्यवस्थित एवं स्वतंत्र निरूपण उनके 'काव्यालंकार' में ही उपलब्ध होता है। इसी तरह नायक-नायिका भेद के सर्व प्रथम अत्यंत वैज्ञानिक विवेचन का श्रेय भी उन्हें प्राप्त है। उन्होंने काव्य हेतु भी तीन लिखे हैं।

इनके बाद आचार्य आनंदवर्धन का नाम आता है। उनका 'ध्वन्यालोक' युगांतकारी काव्य शास्त्रीय प्रबंध है। आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वनि के स्वरूप का विश्लेषण किया है।

इनके उपरांत आचार्य अभिनव गुप्त इस परंपरा में आता है। इनके 'अभिनवभारती' और 'ध्वन्यालोकलोचन' शीर्षक से दो ग्रंथ हैं। उन्होंने 'रसास्वाद' पर विचार व्यक्त किए हैं।

इनके बाद संस्कृत के एक श्रेष्ठ कवि नाटककार एवं आलोचक राजशेखर आए। उनकी संस्कृत काव्य रचनाएँ अत्यंत सरस हैं। इन्होंने काव्य हेतुओं का निरूपण कवित्व माताओं के रूप में किया गया है। राज शेखर ने काव्यार्थ को द्विविध माना है।

इसके उपरांत इस परंपरा में आए धनंजय धनिक - दोनों गुरू शिष्य थे, इन्होंने 'दशरूपक' शीर्षक से ग्रंथ लिखा, उसमें भारतीय नाट्यविधान पर विवेचना मिलती है। धनंजय ने रूपक के दस भेद बताए हैं।

इसके बाद आचार्य कुंतक ने 'वक्रोक्ति जीवित' ग्रंथद्वारा अपना गंभीर एवं मौलिक चिंतन प्रस्तुत किया। वे वक्रोक्ति संप्रदाय के संस्थापक हैं।

इसी परंपरा में आचार्य भोजदेव ने 'सरस्वतीकंठाभरण' के द्वारा काव्यशास्त्र पर प्रकाश डाला। वे गंभीर आलोचक और पंडित काव्यशास्त्री थे। इसके अतिरिक्त उनका 'शृंगार प्रकाश' ग्रंथ भी प्रसिद्ध है, उसमें उन्होंने 36 प्रकाश बताये हैं। इसके भी बारह भेद बताए हैं।

इसके बाद आए आचार्य क्षेमेंद्र ने औचित्य संप्रदाय का प्रवर्तन किया। इस दृष्टि से उनका 'औचित्य विचार चर्चा' महत्वपूर्ण ग्रंथ है। यह अपेक्षाकृत प्रौढ ग्रंथ है।

इसी प्रकार संस्कृत पंडितों की आचार्य परंपरा में आचार्य मम्मट का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। आचार्य मम्मट ध्वनिवादी हैं उनका 'काव्य प्रकाश' ग्रंथ भारतीय साहित्य शास्त्र की एक महनीय उपलब्धि है। काव्य के उन्होंने तीन भेद माने हैं। मम्मट ने काव्यांगों के गंभीर एवं संतुलित विचार प्रस्तुत किए हैं।

मम्मट के बाद अलंकार शास्त्र की प्रौढ़ एवं सशक्त कृति लिखनेवाले रूय्यक का नाम आदर के साथ लिया जाता है। आचार्य रूय्यक ने 'अलंकार-सर्वस्व' ग्रंथ लिखा।

इसके बाद आचार्य हेमचंद्र ने काव्यानुशासन ग्रंथ लिखा। यह उनका काव्य शास्त्रीय प्रबंध है। इसमें काव्य के विभिन्न अंगों का विवेचन दिखाई देता है।

इनके अनुसार ही वाग्भट द्वितीय ने 'काव्यानुशासन' ग्रंथ लिखा।

इनके बाद दर्शन काव्य एवं अलंकार शास्त्र के श्रेष्ठ मर्मज्ञ 'पंडित जयदेव' ने 'चंद्रालोक' ग्रंथ लिखकर अलंकारों का विवेचन किया है।

इसके बाद आचार्य विद्याधर ने 'एकावली' ग्रंथ लिखा। इसके द्वारा रस एवं अलंकार पर प्रकाश डाला गया।

इसके उपरांत आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' लिखकर काव्यशास्त्रीय प्रबंध ही प्रस्तुत किया है।

इसी परंपरा में अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानंद' ग्रंथ के द्वारा अलंकार विवेचन किया है।

इसके बाद आचार्य जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' ग्रंथ लिखा। प्रतिभा एवं ध्वनि पर उन्होंने अपने विचार व्यक्त किए।

इसके उपरांत भारतीय अलंकार-चिंतन की हिंदी परंपरा दिखाई देती है।

इस दृष्टि से केशवदास हिंदी काव्यशास्त्रीय परंपरा के प्रवर्तक माने जाते हैं। कविप्रिया एवं रसिकप्रिया, उनके दो ग्रंथ काव्यांगों का विवेचन करने वाले ग्रंथ हैं।

हिंदी अलंकार-चिंतन की इस परंपरा में चिंतामणि का नाम आता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी ने इन्हें रीतिकाव्य परंपरा का प्रवर्तक माना है। चिंतामणि का 'कवि कुल कल्पतरू' ग्रंथ विशेष प्रसिद्ध है। चिंतामणि रस-ध्वनिवादी आचार्य हैं।

रीतिकालीन प्रमुख हिंदी काव्यशास्त्रियों में आचार्य कुलपति भी हैं। इनके वचन शैली काफी सुबोध है। उनकी कीर्ति का एकमात्र आधार 'रसरहस्य' ग्रंथ है। उन्होंने काव्य के प्रयोजन छः माने हैं।

इसके बाद कवि देव का नाम रीतिकालीन आचार्य कवियों में आदर के साथ लिया जाता है। इनके ग्रंथों की संख्या बहुत-सी बताई जाती है, परंतु शब्द-रसायन और भाव विलास देव के काव्यशास्त्रीय प्रबंध है।

सोमनाथ नामक आचार्य भी इसी परंपरा में आते हैं। इनका ग्रंथ हैं 'रस पीयूष निधि'

इसी परंपरा में मौलिकता एवं प्रौढ विवेचन की दृष्टि से आचार्य भिखारी दास का नाम आता है। वे श्रेष्ठ कवि भी थे। उनकी कीर्ति का आधार 'काव्य निर्णय' ही है। उन्होंने नौ रस बतलाए हैं।

रीतिकालीन हिंदी आचार्यों में प्रताप साहि का नाम 'काव्य विलास' ग्रंथ के लिए प्रसिद्ध है। आचार्य प्रताप साहि का काव्य शास्त्र-संबंधी अध्ययन गंभीर एवं विस्तृत था। उन्होंने 'काव्यार्थ' का भी निरूपण किया था।

हिंदी परंपरा में मद्य युगीन काव्य शास्त्र की परंपरा दिखाई देती है। वैसे तो मध्य युगीन हिंदी काव्य शास्त्र की परंपरा का आरंभ भारतेंदु हरिश्चंद्र की लघु कृति 'नाटक' से माना जाता है। परंतु इसके पूर्व रीतिकालीन कवियों में 'पद्माकर' आचार्य के रूप में प्रसिद्ध थे। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। 'जगद्विनोद' एवं 'पद्माभरण' उनके रीतिकाव्य के प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

गद्य युगीन काव्य शास्त्रों की द्विविध परंपरा चली। पहली परंपरा रूढ़ि-बद्ध काव्य विवेचन को प्रश्रय देती हुई पद्माकर के पश्चात् ब्रह्मदत्त के 'दीप प्रकाश' काशि राज की 'चित्र चंद्रिका' गिरिधर दास के 'भारती भूषण' लेखराज के 'गंगा भरण', लाछिराम के 'रामचंद्र भूषण' आदि में परिलक्षित हुई। इनके अतिरिक्त शेष कवि ऐसे हैं जिन्होंने मौलिक विवेचन कम ही किया और पिष्टपेषण भी अच्छे ढंग से नहीं किया गया है।

दूसरी परंपरा रूढ़ि-मुक्त थी। यह जहाँ प्राचीन ग्रंथों को उपजीव्य सामग्री के रूप में ग्रहण कर रही थी, वहाँ पाश्चात्य काव्यालोचन पद्धति का प्रभाव भी इसपर परिलक्षित होता है। पाश्चात्य समालोचना-साहित्य के सार को यह व्याख्यात्मक स्तर पर हिंदी पाठकों के सम्मुख रखने लगी और उससे विकसित नवीन दृष्टि से भारतीय

काव्यालोचन - सिद्धांतों का मूल्य परीक्षण करने लगी। परिणाम स्वरूप जहाँ मौलिक विवेचन सामने आया वहाँ विसंवादी स्वरों की प्रधानता हो गई। विसंवादी स्वर भावी विकास के सूचक थे।

भारतेंदु हरिश्चंद्र, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल डॉ. श्यामसुंदर दास, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आदि की कृतियाँ समालोचनात्मक रहीं।

आगे चलकर डॉ. नगेंद्र, जय शंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, निराला, महादेवी आदि ने साहित्य के विविध वादों पर अपने विचार स्पष्ट किए हैं।

वर्तमान हिंदी में काव्यशास्त्र के नामपर जो कुछ भी लिखा गया है वह या तो निर्जीव भाव से किया गया पूर्व परंपरा का पिष्ट पेषण है या पाश्चात्य सिद्धांतों के स्वरूप-विश्लेषण का एकांतिक प्रयास अथवा हिंदी साहित्य से संबद्ध काव्यशास्त्रीय समस्याओं का स्वैर चिंतन मनन है - इसलिए हिंदी का अपना कोई साहित्य शास्त्र नहीं है।

## रस सिद्धांत

काव्यानंद को 'ब्रह्मानंद स्वाद सहोदर' माना गया है। दोनों में अंतर इतना ही है कि - ब्रह्मानंद शाश्वत, नित्य और स्थायी है - किंतु काव्यानंद क्षणस्थायी और अनित्य। फिर भी काव्य में 'रस' का सर्वाधिक महत्व है।

भारतीय आचार्यों ने इसी काव्यानंद को पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' की संज्ञा दी है।

'रस' का सर्व प्रथम विवेचन भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में ही मिलता है।

रस तत्व के संदर्भ में विचार व्यक्त करते हुए भरतमुनि ने रस की परिभाषा दी है -

"विभवानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्ति।" अर्थात् "विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव का संयोग होने पर रस की निष्पत्ति होती है।"

'भाव से तात्पर्य स्थायी भाव से है।

**भरत मुनि का रससूत्र** - काव्य में जब इस प्रकार का वर्णन किया जाय कि पाठक या श्रोता आनंद विभोर हो उठे तो उनमें रस की अनुभूति होती हुई मानी जा सकती है। भरत मुनि रस सिद्धांत के प्रबल सम्र्थक हैं। भरत मुनि के रस संबंधी दिए विश्लेषणों से स्पष्ट होता है कि वे विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव का स्थायी भाव से संयोग होने पर ही रस की निष्पत्ति मानते हैं।

उनके मत से जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजन, औषधि एवं द्रव्यादि के संयोग से रस निष्पन्न होता है एवं जिस प्रकार गुड आदि पदार्थों एवं अन्यान्य व्यंजनों तथा औषधियों के मिलने पर मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय इत्यादि विभिन्न प्रकार के रस उत्पन्न होते हैं, वैसे ही नाना भावों को प्राप्त स्थायी भाव भी रस बन जाते हैं। प्रश्न है यह रस कौन-सी वस्तु है? उत्तर है 'जो आस्वाद्य है वही रस है। यहाँ प्रश्न हो सकता है - रस आस्वादन की क्रिया कैसे संपन्न होती है? उत्तर है जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों के मेल से बने हुए भोजन को खाते हुए सुमनस (परिष्कृत मनवाले) पुरूष हर्षादि को प्राप्त करते हैं, वैसे ही वाणी, अंगादि से

स्वाभाविक रूपेण सूचित होने वाली क्रियाओं से स्फूरित नाना प्रकार के भावों तथा अभिनय से व्यंजित होते हुए स्थायिभावों का सहृदय सामाजिक आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त करते हैं।

भरत मुनि के बाद आचार्य भट्ट लोल्लट ने रस संबंधी अपने विचार स्पष्ट किए हैं - उनके अनुसार 'संयोग' का अर्थ है संबंध। यह संबंध तीन प्रकार का होता है। निष्पत्ति का तात्पर्य उनके अनुसार उत्पत्ति है और इसीलिए उनके मत का दूसरा नाम 'उत्पत्तिवाद' भी है। ये उत्पत्तिवादी माने गए हैं। इनके मतानुसार मुख्य रूप से रस अनुकार्य मुख्यपात्र में तथा उनके रूप का अनुकरण करने के कारण अनुकर्ता नट में प्रतीय मान रस कहलाता है। अतः मुख्य रूप से अनुकार्य राम में तथा गौण रूप से नट में रसकी उत्पत्ति होती है। इस मतके आलोचकों ने तर्क देते हुए कहा है कि सामाजिक अर्थात् दर्शक/पाठक के हृदय में रसोत्पत्ति नहीं होगी तो बिना आनंद के काव्य पढने या नाटक देखने से क्या लाभ? दूसरा तर्क यह है कि राम आदि जो इस संसार में नहीं है, तो रसोत्पत्ति नहीं हो सकती, इसी आधार पर नट में भी रस की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

भट्ट शंकुक के अनुसार 'संयोगात्' का अर्थ है अनुमानात एवं 'निष्पत्ति' का अर्थ है 'अनुमिति': इसी अनुमिति के आधार पर उनका मत 'अनुमिति वाद' कहलाता है।

उनकी मान्यता के अनुसार –

* मूलतः रसोत्पत्ति मूल नायक में ही होती है।

* रंग मंचपर कोई कुशल अभिनेता जब बड़ी ही स्वाभाविकता एवं प्रभावमयता के साथ अपना अभिनय संपन्न करता है, तो सहृदय सामाजिक उसी में मूल नायक की अनुमिति (अनुमान) कर लेता है।

* मूल नायक का अभिनय करने वाले अभिनेता को भी हम मूल नायक ही समझते हैं।

यह 'अनुमिति' न्यायशास्त्र सम्मत अनुमान से भिन्न होती है। कारण नैयायिक अनुमान जहाँ वास्तविकता का उद्घाटन होने से नीरस होता है वहाँ 'रस' की अनुमिति लक्ष्य की उत्कृष्टता के कारण सरस तथा आनंद प्रद होती है। दर्शक अभिनेता में मूल नायक की अनुमिति करने के साथ ही उसमें मूल नायक की रति की भी अनुमिति कर लेता है और इसी के फलस्वरूप रस मग्न हो जाता है।

भट्ट शंकुक के अनुमितिवाद पर कुछ आपत्तियाँ उठाई गई हैं -

* अनुमान के आधार पर रस निष्पत्ति का विचार निराधार है।

* अनुमान कभी भी संपूर्मतः आनंद प्रद नहीं हो सकता। आनंद अनुमान में नहीं प्रत्यक्ष अनुभूति में होता है।

अनुमान का संबंध बुद्धि से है, पर रसानुभूति का संबंध हृदय से होता है।

इस संदर्भ में भट्ट नायक ने पहली बार 'रस' प्रकरण में दर्शक का महत्व स्वीकार किया। उन्होंने न तो रस की 'उत्पत्ति' मानी न ही 'अनुमिति' अपितु 'भुक्तिवाद' के रूप में अपनी सर्वथा नवीन मान्यता प्रस्तुत की। उनके अनुसार 'संयागात्' का अर्थ है 'भवनात्' एवं 'निष्पत्ति' का 'भुक्ति'। अतः उनके अनुसार भरतसूत्र की व्याख्या यों होगी .. 'विभवानुभाव व्यभिचारी विभावना द्रसभुक्तिः।' अर्थात् विभवानुभाव (विभाव, अनुभाव) एवं व्याभिचारि भाव - इन तीनों के द्वारा 'विभावन' से रस का 'भोग' होता है।

उनकी मान्यता के अनुसार काव्य में तीन प्रकार की क्रियाएँ होती हैं - 'अभिधा' क्रिया, इसके द्वारा नाटक में प्रयुक्त शब्दार्थ से परिचय होता है। भावकत्व क्रिया, इसको 'साधारणीकरण' की क्रिया के रूप में भी जाना जाता है। इसी के फल स्वरूप हम नाटक के पात्रों को विशिष्ट व्यक्ति न मानकर अपने ही जैसा साधारण समझते हैं। इसके द्वारा संपन्न होने वाली विशिष्ट के सामान्यीकरण' की प्रवृत्ति ही 'साधारणीकरण' के नाम से फ़ुकारी जाती है। अंत में तीसरी क्रिया है 'भोजकत्व क्रिया' जिसके द्वारा नाटक के रस का उपभोग किया जाता है।

इसमें शक नहीं कि भट्ट लोल्लट एवं भट्ट शंकुक के बाद भट्ट नायक ने सीधे एक बहुत बड़ी छलांग मारी और भरत-सूत्र की यथार्थ व्याख्या को सत्य के बहुत निकट ला छोड़ा। उनके रस-विषयक चिंतन का अविस्मरणीय महत्व इस दृष्टि से भी है कि 'साधारणीकरण' शब्द का प्रयोग एवं उसकी प्रक्रिया के रहस्योद्घाटन का प्रयास सर्व प्रथम उन्होंने ही किया। फिर भी 'रसनिष्पत्ति' की संपूर्ण व्याख्या में वे सफल न हो सके।

भट्टनायक पर की जानेवाली कुछ आपत्तियाँ ये हैं - काव्य के शब्दों के अर्थ में 'भावकत्व' क्रिया एवं 'भोजकत्व' क्रिया की कल्पना निराधार है।

काव्य के शब्दों के अर्थ में यदि 'अभिधा' क्रिया की कल्पना स्वीकार्य है तो लक्षणा - क्रिया एवं व्यंजना क्रिया की क्यों नहीं?

सहृदय सामाजिक नाटक के पात्रों के ऐतिहासिक वा विशिष्ट व्यक्तित्व को कभी नहीं भूलता और न ऐसा ही होता है कि संपूर्ण नाटक में उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझ ले।

ऐसा कभी होता नहीं कि दर्शक की सारी 'राजस' एवं 'तामस' वृत्तियाँ संपूर्णतः दब जाए एवं केवल सात्विक वृत्ति ही क्रियाशील रहे।

अभिनव गुप्त का आचार्य परंपरा में महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने उपर्युक्त तीनों आचार्यों के मतों का खंडन कर अपना मंतव्य दिया और कहा कि 'संयोगात्' से तात्पर्य है अभिव्यंजनात् कारण 'विभाव', 'अनुभाव' तथा 'व्यभिचारिभाव' तीनों ही 'अभिव्यंजक' हैं, एवं 'निष्पत्ति' का अर्थ है 'अभिव्यक्ति'। उपर्युक्त तीनों व्यंजक व्यंग्य रस की ही अभिव्यक्ति करते हैं।

उनके अनुसार भरतसूत्र की व्याख्या होगी - विभवानुभाव व्यभिचारि - अभिव्यंजना द्रसाभिव्यक्तिः अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि भाव के द्वारा संपन्न 'अभिव्यंजना से 'रस'की अभिव्यक्ति होती है।' निष्पत्ति का अर्थ उन्होंने 'अभिव्यक्ति' बतलाया, अतः उनका मत अभिव्यक्तिवाद कहलाया।

अभिनव गुप्त की मान्यताओं को सूत्ररूप में इस प्रकार रखा जा सकता है -

* स्थायि भाव प्रत्येक श्रोता या दर्शक (सहृदय सामाजिक) में वासना के रूप में निरंतर विद्यमान रहते हैं। ये स्थायिभाव सभी सहृदय सामाजिकों में होते हैं और संस्कार के रूप में वर्तमान रहते हैं।

* विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव अभिव्यंजक हैं, जिनसे 'अभिव्यक्ति' वा 'अभिव्यंजना' का कार्य संपन्न होता है।

* रस व्यंग्य है और उपर्युक्त तीनों व्यंजकों के द्वारा इसी की अभिव्यक्ति होती है। रस की यह अभिव्यक्ति

ही 'रस निष्पत्ति' है।

* 'सामान्यता' या 'आसक्ति हीन आनंदानुभूति' साधारणीकरण है।

* इस साधारणीकरण के अनुसार रस को जगाने वाले जितने भाव हैं, वे जब सर्व सामान्य के लिए समझ लिए जाते हैं, तभी रस की अभिव्यक्ति होती है।

संक्षेप में अभिनव गुप्त के अनुसार "दर्शक के हृदय में जो रति आदि स्थायीभाव अव्यक्त रहते हैं वे विभावादिव्यंजकों के द्वारा प्रकट हो जाते हैं, अर्थात् रस उत्पन्न या अनुमित नहीं होता, अभिव्यक्त होता है और उपर्युक्त रति इत्यादि स्थायि भावों की अभिव्यक्ति ही रसोपभोग है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भट्टनायक की तरह अभिनव गुप्त भी साधारणी करण के समर्थक हैं, परंतु इस विषय में दोनों के दृष्टिकोणों में पर्याप्त अंतर है। भट्टनायक के अनुसार "दर्शक जहाँ काव्य नाटकादि के ऐतिहासिक एवं विशिष्ट पात्रों को 'सामान्य मानकर रसोपभोग करता है, वहाँ अभिनव गुप्त के अनुसार दर्शक जब निर्लिप्त भाव से मानता है कि किसी वस्तु को देखकर मेरे मन में जैसी आनंदानुभूति हो रही है, वैसी ही प्रत्येक सहृदय के हृदय में भी, तभी वह रसोपभाव में समर्थ हो पाता है।'

आचार्य अभिनव गुप्त की उपर्युक्त व्याख्या को पर्याप्त लोक प्रियता प्राप्त हुई और वह अद्यवधि मान्य है।

## साधारणीकरण

### साधारणीकरण की अवधारणा और उसके संदर्भ में विविध मत : -

काव्य में साधारणीकरण एक पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त होता है।

काव्य के पठन-श्रवण वा नाटकादि के दर्शन से हमें एक अलौकिक आनंदानुभव होने लगता है, उसका आविर्भाव 'साधारणीकरण' द्वारा ही होता है। इस स्थिति में यह स्वाभाविक जिज्ञासा हो सकती है कि साधारणीकरण क्या है? किसका साधारणीकरण होता है, कैसे होता है? आदि।

इन जिज्ञासाओं का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास संस्कृत तथा हिंदी के आचार्य करते आ रहे हैं।

विज्ञान में जिस प्रवृत्तिद्वारा हम 'विशेष' से 'सामान्य' की ओर जाते हैं, उस प्रवृत्ति द्वारा काव्य में कवि अपनी विशिष्ट अनुभूति को व्यापकता प्रदान करता है। सुख-दुःख के मूल ममत्व-परत्व की आनंद व्याघातक भावना को दूर करने के लिए ही साहित्य में 'साधारणीकरण' का विधान होता है। 'साधारणीकरण' शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग 'भुक्तिवाद' के संस्थापक आचार्य भट्टनायक ने किया। रस निष्पत्ति का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा कि काव्य में तीन प्रकार की क्रियाएँ होती हैं -

अभिधा क्रिया, भावकत्व क्रिया एवं भोजकत्व क्रिया। इनमें अभिधा क्रिया के द्वारा हम काव्य के शब्दार्थ से परिचित होते हैं, एवं भावकत्व-क्रिया के द्वारा सहृदय के हृदय स्थित स्थायिभाव एवं विभवादि का साधारणीकरण हो जाता है। अपने काव्य प्रदीप ग्रंथ में आचार्य भट्टनायक ने कहा है - भावकत्व व्यापार ही 'साधारणीकरण' है। उस व्यापार से विभवादि और स्थायि का साधारणीकरण हो जाता है।

**आचार्य अभिनव गुप्त** ने साधारणीकरण को और परिष्कृत ढंग से सर्व समक्ष रखने की कोशिश की।

* जो लोक में प्रमदा (स्त्री) उद्यानादि कहलाते हैं, वे ही काव्य में विभावादि।

* इनके साधारणीकृत हो जाने पर इनके संबंध में न ये मेरे हैं, न शत्रु के, न उदासीन (तटस्थ) व्यक्ति के - 'ऐसी संबंध-स्वीकृति होती है एवं ये मेरे हैं, ये शत्रु के हैं या ये उदासीन (तटस्थ) व्यक्ति के हैं - ऐसे संबंध भाव की अस्वीकृति होती हैं। अर्थात् ममत्व परत्व के बंधन से मुक्ति मिल जाती है।

* इसके द्वारा सामाजिकों के वासनागत रत्यादि स्थायि भाव जागृत हो उठते हैं। उक्तस्थिति में वे व्यक्ति के होकर भी उसके नहीं होते और वे अपने आकार से भी भिन्न नहीं होते हैं अर्थात् अपना निजत्व भी नहीं खोते हैं।

* अस्वाद्य रस एवं आस्वादक सहृदय 'सामाजिक' के बीच किसी माध्यम का अवकाश नहीं रह जाता।

* वह भाव सकल सहृदय सामाजिकों के लिए अनुभव का एक-सा विषय होता है।

* वह चर्व्यमाण (आस्वादित) होकर रस-रूप हो जाता है।

* रस का अनुभव 'प्रपानक रस' की भाँति अखंड होता है।

* साधारणीकरण भयादि के 'संबंध' को व्यक्तियों के 'संबंध' से मुक्त करके सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक रूप में प्रस्तुत कर देता है।

आचार्य मम्मट 'साधारणीकरण' के विषय में अभिनव गुप्त की मान्यताओं से पूर्णतः सहमत है।

'साहित्यदर्पणकार' आचार्य विश्वनाथ ने विभावों के साधारणीकरण के साथ उसके फल स्वरूप सामाजिक का आश्रय के साथ तादात्म्य - संबंध - स्थापन को साधारणीकरण माना है।

उनके संस्कृत श्लोक का हिंदी अनुवाद इस प्रकार है - विभावादि का जो साधारणीकरण व्यापार है, उसके प्रभाव से प्रमाता (सहृदय प्रेक्षक-पाठक) समुद्रोल्लंघन आदि के उत्साह का अनुभव जो उसमें नहीं होता है, हनुमानादि के साथ अभेद - रूप से अपने में कर लेता है।"

अतः भट्ट नायक एवं अभिनव गुप्त ने जहाँ क्रमशः 'विशेष के सामान्यकरण' एवं 'संबंधों के सामान्यीकरण' के 'साधारणीकरण' की संज्ञा दी है।

आचार्य विश्वनाथ ने आश्रय एवं सहृदय सामाजिक के तादात्म्यसंबंधों को 'साधारणीकरण' कहा है।

हिंदी में 'साधारणीकरण' पर विचार करने वालों में आचार्य, रामचंद्र शुक्ल, डॉ. श्यामसुंदर दास, एवं डॉ. नगेंद्र उल्लेख्य हैं। डॉ. श्यामसुंदर दास ने आचार्य केशव प्रसाद मिश्र का अनुकरण करते हुए 'साधारणीकरण' का विश्लेषण "योग की मधुमती भूमिका' के आधार पर किया है।

उनके विस्तृत विवेचन का सार यों रखा जा सकता है - योगी की मधुमती भूमिका में जो आनंदमयी स्थिति रहती है, वैसी स्थिति में जीवन यापन की क्षमता प्रतिभाशाली कवियों में स्वभावतः हुआ करती है। काव्य के सहृदय अध्येताओं का कवियों की तादृश्य अनुभूति से तादात्म्य प्राप्त करना ही 'साधारणीकरण' है।

डॉ. श्यामसुंदर दास पर आचार्य विश्वनाथ का प्रभाव स्पष्ट है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने साधारणीकरण का विश्लेषण करते हुए कहा है कि 'साधारणीकरण का अभिप्रय

यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलंबन हो जाती है। तात्पर्य यह कि आलंबन-रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाववाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलंबन हो जाता है।'

यदि ठीक से विश्लेषण कर देखा जाय तो मालूम होगा कि आचार्य शुक्ल के विश्लेषण का सारांश निम्नांकित है -

* सहृदय पाठक या श्रोता (या प्रेक्षक) के भाव का साधारणीकरण होता है;
* उसका आश्रय के साथ तादात्म्य-संबंध हो जाता है;
* आलंबन रूप से प्रतिष्ठित व्यक्ति में समान प्रभाव वाले कतिपय ऐसे धर्मों की प्रतिष्ठा होती है, जिसके कारण वह सहृदय पाठक या श्रोता का आलंबन बन सके।

इस तरह आचार्य शुक्ल ने जहाँ प्रथम दो सूत्रों में प्राचीन संस्कृत आचार्यों की इस विषय में मान्यताओं का समाहार प्रस्तुत किया है, वहाँ अंतिम सूत्र में समान प्रभाववाले कतिपय धर्मों का निर्देश कर कवि कर्म की सीमाओं एवं 'साधारणीकरण' में परिलक्षित होने वाले 'व्यक्ति' वैचित्र्यवाद' की ओर भी संकेत किया है।

आचार्य शुक्ल के कथन के मर्म से अपरिचित रहकर कतिपय आलोचकों ने ऐसी धारणा व्यक्त की है कि वे 'विभवादिको कवि की मानसी सृष्टि मानते हुए विषयगत महत्व को नगण्य कर दिया है और 'कवि की अनुभूति का साधारणीकरण' माना है।

**करूण रस की आस्वाद्यता : -** करूण रस यद्‌यपि करूण भाव से भरा होता है। परंतु आचार्यों का चिंतन है कि रस अलौकिक होते हैं। रस को अलौकिक माननाही युक्तिसंगत है। रसास्वाद तो केवल आनंदरूपी, सुखात्मक ही है।

वास्तव में अभिनव गुप्त ने सभी रसों की आनंद स्वरूपता को स्वीकार किया है और कहा है - "सर्व अमी सुख प्रधानाः स्वसंविच्चवर्णरूपस्य एकधनस्य प्रकाशस्य आनंद सारत्वात्। अंतराय शून्य विश्रांति शरीर त्वात सुखस्य। अविश्रांति रूप तैव दुःखम्। तत एव कापिलैः दुःखस्य चांचल्य मेव प्राणत्वेन उक्तम रजोवृत्तितां वदद्भि भिः इति आनंदरूपता सर्व रसानाम्। अर्थात् सभी रस सुख प्रधान ही हैं, क्योंकि स्वसंविद चर्वण रूप हैं। ग्रह चर्वण रूप एक घन तथा प्रकाशमान (बोध रूप) हैं, (जिसमें सामाजिकों का चित्त निश्रांत हुआ रहता है) इसलिए आनंद ही उसका सारतत्व है। (वास्तव में) शरीर में (चित्त की) अविश्रांत रूप अवस्था ही दुःख है।

इसलिए सांख्यवादी कपिल ने दुःख के प्राणतत्व के रूप में (चित्तकी) चंचलता को स्वीकार कर उसे रजोवृत्ति (का धर्म ही) माना है।

परंतु आचार्य रामचंद्र गुणचंद्र ने अपने ग्रंथ 'नाट्यदर्पण' में रस को सुखदुःखात्मक माना है। उनके मत से शृंगार, हास्य, वीर, अद्‌भुत, और शांत ये पाँच रस सुखात्मक हैं और करूण, रौद्र, बीभत्स और भयानक ये चार रस दुःखात्मक हैं।

वास्तव में कोई भी रस न लौकिक है, न दुःखात्मक। हर एक रस आनंद रूप है, सुखात्मक ही है। इसलिए

आचार्य विश्वानाथ ने अपने ग्रंथ 'साहित्य-दर्पण' में अपना अत्यंत युक्तिसंगत मत व्यक्त किया है - "अर्थात् करूण आदि रसों में भी जो परमसुख अर्थात् परम आनंद होता है, उसके लिए केवल सहृदय रूप सामाजिकों का अनुभव ही प्रमाण है। यदि उनमें दुःख (का अनुभव) होता तो कोई भी उनमें प्रवृत्त न होता और रामायण आदि महाकाव्य उनके लिए दुःख के कारण बन जाते।"

अतः प्रत्येक रस को आनंद रूप अर्थात् सुखात्मकही मानने के लिए आचार्य विश्वनाथ का उपर्युक्त मत सर्वथा स्वीकारणीय है।

**अलंकार सिद्धांत**

अलंकार के संदर्भ में आचार्य दंडी ने कहा है - 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। अर्थात् काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म को अलंकार कहते हैं।

आचार्य वामन ने काव्य के शोभाकर धर्म को 'अलंकार' न कहकर 'गुण' कहा है एवं इन गुणों के उत्कर्ष में वृद्धि करने वाले तत्वों को अलंकार कहा है। उन्होंने काव्य के संपूर्ण 'सौंदर्य' को ही अलंकार कहा है।

आचार्य मम्मट के अनुसार 'अलंकार काव्य के मुख्यार्थ रस का यदा-कदा उपकार करनेवाला तत्व है। काव्य-शरीर में अलंकार हारादि अलंकारों के समान होते हैं।

आचार्य विश्वनाथ - अलंकारों को वे शब्द अर्थ का अस्थिर वा अनित्य धर्म मानते हैं। अलंकार संबंधी आचार्य रामचंद्र शुक्ल के विचार उल्लेखनीय हैं - वे कहते हैं - वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भावों को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दिखाना पडता है। कभी उसके रूप-रंग या गुण की भावना को उस प्रकार के और रूप रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्म वाली और-और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा फिरा कर भी कहना पडता है। भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।

**सुमित्रानंदन पंत लिखते हैं -**

अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार है। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आधार, व्यवहार, रीति, नीति हैं, पृथक स्थिति के पृथक स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं।

अलंकार दो शब्दों से मिलकर बना है - अलं + कार। अलं का अर्थ है 'सजाना' 'कार' से अभिप्राय है 'करनेवाला'। अलंकार का अर्थ हुआ सजानेवाला। मनुष्य जिस प्रकार आभूषणों को धारण करके सुशोभित होता है, उसी प्रकार काव्य भी अलंकार युक्त होकर सुशोभित होता है।

**अलंकारों का काव्य में महत्व - (स्थान)**

संस्कृत काव्य शास्त्र में अलंकारों को अत्यधिक महत्व दिया गया है। इसी महत्व के कारण संस्कृत आचार्यों ने काव्य शास्त्र का नाम 'अलंकार शास्त्र' रख दिया है। वे अलंकार शास्त्र को वेद का सातवाँ अंग मानते हैं। काव्य साधना में भाव व भाषा दोनों का ही समान महत्व है। जो चमत्कारपूर्ण भाषा में काव्यरचना करता है

वह कवि भाषा का शिल्पी माना जाता है। भाषा में चमत्कार और अनुरंजन उत्पन्न करने की भावना अलंकारों की जननी है। अनेक आचार्यों ने अलंकारों को काव्य का अनिवार्य अंग माना है क्योंकि अलंकारों से भाषा तथा अर्थ में सौंदर्य - वृद्धि होती है।

केशवदास ने अलंकारों का काव्य में महत्व व्यक्त करते हुए लिखा है कि - भूषण बिनु न विराजही कविता वनिता मित्त'

अलंकार वादी आचार्यों ने तो अलंकार को काव्य की आत्मा तक बता दिया। जयदेव ने लिखा है - "अलंकार विहीन काव्य को काव्य मानना उष्णता विहीन आग को आग मानने के समान है।"

इससे स्पष्ट होता है कि काव्य में अलंकारों का महत्वपूर्ण स्थान है।

फिर भी यह देखा गया है कि अलंकार रहित काव्य भी भावों को उद्दीप्त कर रसोत्पत्ति कर सकते हैं, इससे यह स्पष्ट है कि काव्य में अलंकारों की अनिवार्यता नहीं है। वे सौंदर्य में वृद्धिकारक हैं, सौंदर्य के उत्पादक नहीं हैं। अलंकार काव्य में रस, भाव, विचार तथा कल्पना का स्थान नहीं ले सकते, अलंकार केवल अर्थ को अधिक रोचक एवं सुंदर बनाते हैं। ये साधन हैं, साध्य नहीं हैं।

कविता में अलंकारों का प्रयोग उतना ही वांछित है, जितने से वे सौंदर्य वृद्धि के कारक हो। अनावश्यक या अत्यधिक माया में अलंकारों का प्रयोग करने से रसानुभूति में अवरोध उत्पन्न हो जाता हैं, तथा कविता का नैसर्गिक सौंदर्य नष्ट हो जाता है।

**काव्य में अलंकारों का स्थान रस, भाव, गुणों के पश्चात् आता है।** भाषा है तो अलंकार हैं, भाषा के आसन पर बैठकर अलंकार शोभावर्धक होते हैं।

सामान्य रूप से कोई भी कवि निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अलंकारों का प्रयोग करता है -

1. भावों और विचारों को रमणीय तथा प्रेषणीय बनाने के लिए।
2. अभिव्यक्ति को स्पष्ट करने के लिए।
3. भाषा में सौंदर्य की वृद्धि करने के लिए।
4. भाषा में भाव गांभीर्य की क्षमता का विकास करने के लिए।

**अलंकार और रस -**

सुंदर को सुंदर तम बनाने की प्रवृत्ति ने अलंकार को जन्म दिया क्योंकि अलंकरण मानव की प्रकृति है।

आचार्य वामन ने तो सौंदर्य को ही अलंकार कहा है। 'सौंदर्यमलंकारः।' उनके मत से अलंकार भावात्मक अलंकृति है न कि शाब्दिक चमत्कार।

आध्यात्मवादी आचार्यों ने रस के सदृश अलंकार को भी 'ब्रह्म संज्ञक' बताया। उनकी दृष्टि में ब्रह्म 'अलं' का पर्याय है। इसीलिए अलंकार शास्त्र के आदि आचार्य भामह ने अलंकार विहीन काव्य के अस्तित्व से ही इनकार किया है। आचार्यों ने काव्य विवेचना प्रसंग में चारूता, कमनीयता, सौंदर्य, रमणीयता आदि शब्दों

के माध्यम से सौंदर्य प्रतीति को काव्यात्म तत्व के साथ जोड़ दिया है, उसको ही अलंकार माना गया है।

शब्द और अर्थ के शोभावर्धक ये धर्म अंततः काव्य के आत्मभूत रस ध्वनि की अभिव्यंजना में सहायक होते हैं।

ध्वनि संप्रदाय के आविर्भाव के साथ ही अलंकार की प्रतिष्ठा घट गई, उसका कार्य रस तथा ध्वनि की सहायता मात्र रह गया।

अलंकार रस के उपकारक ही हैं, रसाभिव्यक्ति के अनिवार्य माध्यम हैं। काव्यभाषा ही कृति को सशक्त बनाती है। प्रतिभाशाली कवि की भाषा अलंकृत होती ही है। रचना में प्रयुक्त अलंकारों की स्थिति रस की अंगवर्तिनी यदि नहीं होती तो काव्य सहज संप्रेषित नहीं होता।

परंतु रस भी महत्वपूर्ण है। रस मानववाद के दृढ स्तंभ पर प्रतिष्ठित है। रस का निषेध जीवन का निषेध होगा। रसका मानव जीवन एवं कला के साथ शाश्वत संबंध है।

**रीति सिद्धांत**

रीति शब्द की व्युत्पत्ति -

'रीति' शब्द 'रीड़' धातु से 'क्ति' प्रत्यय मिलने से बना है, जिसका अर्थ है - प्रगति, पद्धति, प्रणाली, मार्ग इत्यादि। आज जिसे 'शैली' कहते हैं, उसे ही भारतीय दृष्टि से 'रीति' कहते हैं।

काव्य में 'रीति' की सुदृढ़ स्थापना का श्रेय आचार्य वामन को है। उन्होंने 'रीति' का विश्लेषण करते हुए कहा है - 'पदसङ घटना' या विशिष्ट पद रचना रीतिः' अर्थात् पदों की सङ् घटना ही रीति है। पद सङ् घटना या पदरचना से तात्पर्य है पदों का विन्यास। पर हर एक प्रकार का पद विन्यास 'विशिष्ट' विशेषण का अधिकारी नहीं हो सकता। उसकी विशिष्टता का रहस्य उसके 'गुणात्मा' होने में है। 'गुणात्मा' यानी 'गुण' जो काव्य के 'नित्यधर्म' और उसकी शोभा के कर्ता हैं। अतः गुणात्मा 'पदसङ् घटना' को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, ऐसा विचार आचार्य वामन का था।

इसीलिए, उन्होंने लिखा - 'रीति रात्मा काव्यस्य' अर्थात् 'काव्य की आत्मा रीति है'।

परवर्त्ती आचार्यों में आचार्य विश्वनाथ ने काव्य की आत्मा 'रस' को स्वीकार किया है। रीतियाँ रसकी उपकर्मी हैं।

मम्मट 'नियत वर्ण व्यापार' को रीति मानते हैं। रीतियों का आधार समास नहीं अपितु वर्णो का गुंफन है।

कुंतक ने रीति के स्थान पर मार्ग शब्द का प्रयोग किया है। मार्ग कवि स्वभाव पर आधारित है। सुकुमार, विचित्र और मध्यम ये तीनों मार्ग कवि स्वभाव से जुड़कर व्यक्तिनिष्ठ हो जातें हैं।

रीतियों की संख्या के विषय में भी मतभेद हैं। आचार्य वामन ने इसके तीन भेद किये हैं - वैदर्भी, गौडी एवं पाञ्चाली।

रूद्रट ने एक चौथी रीति को नाम दिया है - लाटीयाराजशेखर ने वामन की रीतियों को मान्यता देते हुए

एक 'मैथिली' रीति का उल्लेख किया है।

भोज देव ने छः रीतियाँ बताई हैं - वैदर्भी, पाञ्चाली, लाटीया, गौडीया, अवंतिका और मागधी।

अंततः आँचलिक आधार पर रीतियों के नामकरण का विरोध हुआ, किंतु रीति का विवेचन मान्य हुआ। क्यों कि वामन ने काव्य को विशिष्ट प्रकार का बंध माना है और यह बंध शब्दार्थों का होता है।

वामन की दृष्टि इस संदर्भ में वस्तुनिष्ठ और व्यावहारिक है।

**रीतिभेद**

आचार्य वामन के विचारों के अनुसार रीतियों के तीन भेद हैं - लगभग सभी आचार्यों ने इन्हें मान्यता दी है - ये भेद हैं - वैदर्भी, गौडी एवं पाञ्चाली।

**वैदर्भी** -

काव्य की यह सर्वोत्तम 'रीति' मानी जाती है। आचार्य विश्वनाथ ने इसका स्वरूप विश्लेषण करते हुए कहा है - माधुर्य व्यंजक वर्णों से समन्वित समास रहित या अत्यंत छोटे-छोटे समासों से युक्त ललित रचना को वैदर्भी रीति कहते हैं -

उदा -

चारू चंद्र की चंचल किरणें
खेल रही हैं जल थल में
स्वच्छ चाँदनी विछी हुई है
अवनि और अंबर तल में।

मैथिलीशरण गुप्त

(पंचवटी)

**गौडी**

ओजस्वी प्राण-धारा से स्फूर्त औद्धत्यपूर्ण रचना के लिए यह शैली अत्यंत श्रेष्ठ कोटीकी मानी जाती है। संस्कृत साहित्य में इसका विपुल प्रयोग मिलता है, जो गुण और मात्रा दोनों ही दृष्टियों से स्पृहणीय है।

आचार्य विश्वनाथने इसका स्वरूप विश्लेषण करते हुए कहा है -

'ओज के प्रकाशक वर्णों से संघटित औद्धत्य पूर्ण पद संघटना वाली, दीर्घ, समासों से युक्त एवं आडंबर-प्रधान रीति 'गौडी' है -

उदा.

"अनिमेष-राम विश्वजिद दिव्यशर-भंग

भाव बिद्धांग - बद्ध कोदंड मुष्टि -

खर रूधिर स्त्राव

रावण-प्रहार-दुर्वार विकल वानर-दल - बल

मूर्च्छित- सुग्रीवागंद-भीषण-गवाक्ष-गय-नल

वारित सौमित्री-भल्ल पति-अगणित मल्लरोध,

गर्जित प्रलयाब्धि-क्षुब्ध हनुमत्केवल प्रबोध,

उद्गीरित वह्नि-भीम पर्वत-कवि-चतुः प्रहर

जानकी-भीरू-उर-आशाभर-रावण संबर।

- निराला - अनामिका

**पाञ्चाली**

यह वैदर्भी-गोडी रीतियों के बीच की शैली मानी जा सकती है। इसका विश्लेषण करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है - वैदर्भी एवं गौडी में मुख्य रूप से प्रयुक्त होने वाले वर्णों से इतर वर्णों से संघटित, अधिक-से-अधिक पाँच छः पदों के समासों से युक्त रचना 'पाञ्चाली' मानी जाती है -

उदा. -

दृग हो तो दृश्य अकाण्ड देख

मुझमें सारा ब्रह्मांड देख

चर-अचर जीव जग क्षर-अक्षर

नश्वर मनुष्य सुरजाति अमर

शतकोटि सूर्य, शतकोटि चंद्र

शत कोटि सरित, शत सिंधुमंद्र

शत कोटि विष्णु ब्रह्मा-महेश

शत कोटि विष्णु-जलपति-धनेश

शत कोटि रूद्र शतकोटिकाल

शतकोटि दंडधर लोकपाल

जंजीर बढ़ाकर साथ इन्हें

हाँ, हाँ, दुर्योधन बाँध इन्हें।

दिनकर - रश्मिरथी

रीतियों के संदर्भ में वामन की दृष्टि वस्तुनिष्ठ और व्यावहारिक है। काव्य बंध ही है। वामन की दृष्टि में रीतियों में काव्य उसी प्रकार सुशोभित है जैसे रेखाओं में चित्र।

रीति को आत्मा गुणविवेचन कहकर वामन विषय की वैज्ञानिकता को स्वर देने में सक्षम हुए हैं और यही बिंदु है जो रीति को शैली जैसे तत्व से जोड़ देता है।

हिंदी की नाथ सिद्धों की परंपरा में उलट बासियाँ, विरोध मूलकता, अलंकारिकता और प्रतीक योजना उनके रीतिगत वैशिष्ट्य को ही प्रकट करती है। रीति काल में यूँ तो चमत्कारिक और अलंकृत काव्य की रचना ही हुई फिर भी रीति संबंधी विवेचन मिलता है। रीति का प्रयोग यहाँ दो रूपों में मिलता है।

1. काव्य शास्त्रीय विधान के अर्थ में

2. वैदर्भी आदि रीतियों के अर्थ में

**रीति और शैली**

कवि देव ने रीति को काव्य का द्वार और रस से अभिन्न माना है। पर उनकी यह धारणा गुण के संबंध में है! गुण को वह रसका नित्य धर्म मानते हैं।

द्विवेदी युगीन समीक्षा में रीति और शैली को एक मानकर चलने की प्रवृत्ति उभरती है। पंडित राम दहिन मिश्र के शब्दों में - शब्दार्थ शरीर काव्य के आत्मभूत रसादि का उपकार करने, प्रभाव बढ़ानेवाली पदों की जो विशिष्ट रचना है उसे रीति कहते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रीति की स्पष्ट परिभाषा न करते हुए भी एक स्थल पर लिखा कि - 'रीति का विधान शुद्ध वाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए हुआ है। इस दृष्टि से कोमल रसों में कोमल वर्णों में और रौद्र, भयानक आदि उग्र और कठोर रसों में परूष और कठोर वर्णों का प्रयोग अच्छा बताया गया है। शुक्ल जी का रीति विवेचन पेटर तथा रेन वेलेक जैसे पाश्चात्य चिंतकों से प्रभावित रहा है यह अवश्य है कि शुक्ल जी ने उसे भारतीय परंपरा के अनुकूल अपनाया है। रीति के वस्तु तथा विधान पक्ष, दोनों को समन्वित रूप में अपना करके रीति की महत्ता रसोत्कर्ष रूप में स्वीकार की है।

डॉ. नगेंद्र - रीति को शैली मानते हैं - "यूरोप के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट शैली के तत्व नामांतर से रीति के तत्वों में अंतर्भाव हो जाता है।"

किंतु भारतीय रीति कही भी व्यक्ति तत्व का निरूपण नहीं करती है। रीति के आधार पर काव्य रचना का विश्लेषण वस्तुनिष्ठ होता है जब कि शैली आत्मनिष्ठ तत्व है। शैली में दो तत्व समाविष्ट हैं - व्यक्ति तत्व और देश काल संस्कृति का तत्व। संघटना में जो वस्तुनिष्ठता है, शैली उससे अलग है। शैली देश काल से प्रभावित होती है। जैसे - अभिजात्य शैली, रोमँटिक शैली।

संघटना को हम इस तरह का नाम नहीं दे सकते हैं। रीति की वस्तुनिष्ठता का परिहार करने के लिए ही कुंतक ने 'मार्ग' की परिकल्पना की थी। हाँ, जहाँतक भाषिक दृष्टि से संरचना के आधार पर रचना का मूल्यांकन

अथवा विश्लेषण की बात है, आधुनिक समीक्षा सिद्धांत रीति जैसे तत्व से स्वयं ही जुड जाता है।

प्रत्येक युग की शैली परिवेश के साथ जुड़कर जीवंत होती है, जैसे यदि लाक्षणिकता, बिंब विधान, सांकेतिकता, भाषा अलंकृति, नवीन शब्दों की उद्‌भावना छायावादी शैली की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं तो प्रगतिवादी काव्य शैली में ये कविता की संप्रेषणीयता में अवरोधक तत्व है। निराला की शैली समास प्रधान होना उनके व्यक्तित्व की ओजस्विता है। इसके विपरित कवि सुमित्रानंदन की शैली में जो कोमलता और मधुरता है वह कवि को एक सुकुमार कवि के सीमा रेखा से बाहर ही नहीं होने देती है। जयशंकर प्रसाद अनुभूति के कवि हैं और उनका कवि कर्म उनकी दार्शनिकता का प्रमाण है।

शिल्प की दृष्टि से नई कविता सर्वत्र समृद्ध है। फिर भी कविता भाषा का संघटन है इससे इन्कार तो नहीं किया जा सकता।

युग परिवर्तन के साथ काव्य मूल्य, सौंदर्य मूल्य और जीवन मूल्य भी तेजी से बदल रहे हैं। इनके बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खिंची जा सकती, फिर भी रीति शैली एक काव्य मूल्य के रूप में स्थिर रहेंगे।

**ध्वनि सिद्धांत**

संस्कृत काव्य शास्त्र में काव्य की आत्मा के विषय में विचार करने वाले जो काव्य सिद्धांत हैं, उनमें ध्वनि सिद्धांत बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। जिन आचार्यो ने काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि को महत्व दिया है उनके मतों के आधार पर संस्कृत काव्य शास्त्र में ध्वनि संप्रदाय प्रचलित हुआ है।

**ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति -**

ध्वनि से तात्पर्य है, 'ध्वन्यर्थ' से जिसे 'व्यंग्यार्थ' 'सूच्यार्थ, प्रतीय मानार्थ इत्यादि भी कहते हैं।

प्रतीय मान पुनरन्यदेव
वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवी नाम्
तत्तत् प्रसिद्धाऽ व्रयवाति रिक्त
विभति लावण्य मिवांग नासु।।'

अर्थात् 'जैसे रमणियों के मुख, बाहु, उरोज, इत्यादि उन उन अंगों की चारूता के अतिरिक्त भी उनकी संपूर्ण शरीर यष्टि में 'लावण्य' नामक एक कांति विशेष उल्लसित होता रहता है, उसी प्रकार महाकवियों की वाणी में सामान्य अर्थ संपदा के अतिरिक्त भी एक विशिष्ट प्रकार का व्यंग्यार्थ अंतर्निहित होता है, जो हमें सहज ही चमत्कृत कर देता है।"

तात्पर्य यह कि काव्य रूप में प्रस्फुटित होने वाला यह वह चमत्कारी भाव है जो अंत में या खुलते ही हमें चमत्कृत कर हमारे ह्दय मनको आनंदाभिभूत कर लेता है।

ध्वनि का स्वरूप बड़ा ही व्यापक है और रसतत्व का अंतर्भाव स्वतः इसके अंतर्गत हो जाता है।

**ध्वनि-सिद्धांत के प्रवर्तक**

संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य आनंद वर्धन ने ही ईसा की नौवीं शती के अंतिम भाग में ध्वनि सिद्धांत का प्रवर्तन किया है। माना जाता है कि आचार्य आनंद वर्धन से पूर्व संस्कृत काव्य शास्त्र में ध्वनि सिद्धांत प्रचलित नहीं था। आचार्य आनंद वर्धन ने लगभग 875 ईस्वी. में 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रंथ का निर्माण किया, जिससे संस्कृत काव्यशास्त्र में 'ध्वनि सिद्धांत' का प्रचलन हुआ। इस ग्रंथ में ध्वनि सिद्धांत का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य आनंद वर्धन ने ध्वनि को ही 'काव्य की आत्मा' (काव्य स्यात्मा ध्वनिः) के रूप में स्वीकार किया है।

आचार्य आनंद वर्धन ने अपने ध्वनि सिद्धांत में व्यंजना को बहुत महत्व दिया है। उन्होंने 'व्यंजना' शब्द शक्ति को ध्वनि का आधार भूत तत्व माना है और व्यंजना के आधार पर 'अभिधा' शब्द शक्ति तथा 'लक्षणा' शब्द शक्ति को स्वीकार किया है। इस कारण से उन्होंने अपने ध्वनि सिद्धांत के भीतर 'अभिधा' और 'लक्षणा' के आधार पर 'अभिधा मूला ध्वनि' को स्वीकार कर लिया है और लक्षणों के आधार पर 'लक्षणा मूला ध्वनी' को स्वीकार कर लिया है।

आचार्य आनंद वर्धन ने उस काव्य को ध्वनि माना है जिसमें 'व्यंग्यार्थ' की प्रधानता होती है। उसके मतानुसार काव्य में व्यंग्यार्थ के आधार पर वस्तु ध्वनि या अलंकार ध्वनि या रस ध्वनि का अस्तित्व बना रहता है। परंतु उनकी दृष्टि से रस ध्वनि ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि रस ध्वनि के आधार पर ही काव्य श्रेष्ठ और प्रभावोत्पादक बन जाता है। इस प्रकार की मान्यता को लेकर आचार्य आनंद वर्धन उसे उत्तम काव्य मानते हैं जिसमें व्यंग्यार्थ रूप में ध्वनि होती है, उसे मध्यम काव्य मानते हैं जिसमें ऐसा व्यंग्यार्थ होता है जो वाच्यार्थ के समान होता है और अधम या अश्रेष्ठ काव्य उसे मानते हैं, जो व्यंग्यार्थ रहित होता है।

इस प्रकार आचार्य आनंद वर्धन ध्वनि सिद्धांत के प्रवर्तक हैं और उनका 'ध्वन्यालोक' ग्रंथ ध्वनि सिद्धांत का पहला ग्रंथ है।

आचार्य अभिनव गुप्त भी ध्वनि सिद्धांत के प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने आचार्य आनंद वर्धन के ध्वन्यालोक ग्रंथ पर 'लोचन' नामक टीका ग्रंथ का निर्माण किया है। इस ग्रंथ में टीका है, ध्वनि सिद्धांत के समर्थन में स्पष्टीकरण दिया है। आचार्य अभिनव गुप्त ने रस को 'वाच्य' न माने हुए 'व्यंग्य' माना। उनकी दृष्टि से काव्य में रस का बोध (अनुभव) व्यंग्य रूप में ही होता है।

इस प्रकार आचार्य आनंदवर्धन द्वारा प्रवर्तित ध्वनि-सिद्धांत आचार्य अभिनव गुप्त के 'ध्वन्या लोक लोचन' ग्रंथ के द्वारा एक काव्य शास्त्रीय संप्रदाय के रूप में प्रचलित हो गया।

इसके बाद आचार्य मम्मट ने ध्वनि-सिद्धांत का खंडनात्मक विरोध करनेवाले मतों का विरोध करते हुए ध्वनि सिद्धांत का जोरदार समर्थन किया। इसके लिए उन्होंने 'काव्य प्रकाश' ग्रंथ का निर्माण किया। इस ग्रंथ द्वारा उन्होंने संस्कृत काव्य शास्त्र में ध्वनि सिद्धांत की पुनर्स्थापना की। इसके बाद रसवादी होते हुए भी पंडित राज जगन्नाथ ध्वनि सिद्धांत का समर्थन करते रहे। उन्होंने 'रस-गंगाधर' नामक ग्रंथ का निर्माण किया और रस के लिए पोषक सिद्धांत के रूप में ध्वनि सिद्धांत का महत्व स्पष्ट किया।

मुकुल भट्ट प्रतिहारेंन्दुराज, भट्टनायक, धनंजय, धनिक, कुंतक आदि आचार्यों ने ध्वनि सिद्धांत का खंडनात्मक विरोध किया। फिर भी संस्कृत काव्य शास्त्र में ध्वनि सिद्धांत का महत्व कम नहीं हुआ। खंडन मंडन

के कारण ध्वनिसिद्धांत अधिकाधिक मौलिक बनकर साहित्य सौंदर्य के बोध का एक उत्तम मानदंड बन गया।

**स्फोट सिद्धांत**

**स्फोट और ध्वनि**

ध्वनि सिद्धांत में ध्वनि के स्वीकार के लिए 'स्फोट' का ही आधार लिया गया है। इसलिए यह देखना महत्वपूर्ण है कि काव्य शास्त्रीय ध्वनि सिद्धांत में स्फोट और ध्वनि को किस रूप में स्वीकार किया गया है।

**1. वैयाकरणों का स्फोट वाद -** अर्थ प्रतीति का आधार - ध्वनि सिद्धांत में जिसे 'ध्वनि' माना गया है, उसके मूल में वैयाकरणों के 'स्फोट वाद' को स्वीकार किया गया है। वैयाकरणों की दृष्टि से श्रुयमाण अर्थात् कानों को सुनाई पड़ने वाले 'वाक' में गुण के रूप में ध्वनि का अस्तित्व होता है। इसलिए श्रूयभाषा वर्ण के विषय में अंगों की प्रक्रिया - वर्ण का उच्चारण और श्रोता से उस वर्ण का ग्रहण - होती है। वैयाकरणों की दृष्टि से चौथी क्रिया के रूप में श्रोता के द्वारा ध्वनिरूप नाद के रूप मूल में ध्वनिरूप वर्ण का ग्रहण 'स्फोट' है। इसलिए वैयाकरण 'नाद' को व्यंजक मानते हैं और स्फोट को व्यंग्य। इस प्रकार श्रूयमाण वर्ण की संपूर्ण प्रक्रिया अर्थात् 'श्रुति' का पूर्ण होना ही 'स्फोट' है। स्फोट में प्रतीति होने वाले अर्थ को भी 'व्यंग्य' माना जाता है। वैयाकरणों ने शब्द स्फोट को बहुत महत्वपूर्ण माना है।

वैयाकरणों की दृष्टि से 'स्फोट' शब्द के उच्चारण की ऐसी पूर्णता है, जिससे उस शब्द का अर्थ भी अभिव्यक्त हो जाता है। अतएव 'स्फोट' जिस क्षण शब्द के उच्चारण की पूर्णता है, उसी क्षण वह शब्द के अर्थ की प्रतीति भी है। इस प्रकार शब्द और स्फोट में व्यंजक व्यंग्य भाव होता है। स्फोट 'व्यंग्य' होने के कारण उसमें जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वह भी व्यंग्य होता है।

ध्वनि-सिद्धांत काव्य सौंदर्य को समझने की दृष्टि से सर्व समावेशक बन गया है। ध्वनिकाव्य : उत्तम काव्य - आचार्य आनंदवर्धन ने उस काव्य को ही उत्तम माना है जिसमें 'ध्वनि' होती है। श्रेष्ठ काव्य के रूप में ध्वनि काव्य को ही महत्व दिया गया है।

इस प्रकार ध्वनि सिद्धांत में 'स्फोट' और 'ध्वनि' का महत्व है। ध्वनि के विषय में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थ का भी महत्व है। इस दृष्टि से ध्वनि-सिद्धांत के भीतर ध्वनि विषयक ज्ञान पाने के लिए 'शब्दशक्ति' का स्वरूप समझ में लेना महत्वपूर्ण है।

**ध्वनि और शब्द शक्ति**

काव्य शास्त्रीय ध्वनि सिद्धांत में शब्दशक्ति का बहुत-महत्व है। ध्वनि सिद्धांत का मर्म समझने के लिए शब्द शक्ति का स्वरूप जानना आवश्यक है। शब्द में ऐसी शक्ति है, जिससे शब्द के अर्थ की प्रतीति होती है। इस शक्ति के कारण ही शब्द का उच्चारण करने-सुनने पर या शब्द पढ़ने पर उसके अर्थ की प्रतीति होती है। शब्द शक्ति शब्द का अर्थ व्यक्त करती ही है, साथ में वह शब्द और अर्थ का संबंध व्यक्त करने का कार्य भी करती है। इसलिए कहा गया है 'शब्दार्थ संबंध : शक्तिः।' वास्तव में शब्द और अर्थ के संबंध के आधार पर ही शब्दार्थ की प्रतीति होती है।

**1. शब्द शक्ति के भेद -** जिससे शब्द और अर्थ का संबंध तथा शब्द का अर्थ व्यक्त होता है उस शक्ति

के तीन भेद हैं -

1. अभिथा

2. लक्षणा

3. व्यंजना

शब्द की अभिधा शक्ति के आधार पर शब्द और अर्थ में 'वाचक-वाच्य' अर्थात 'वाच्य-वाचक' भाव संबंध होता है। यहाँ शब्द वाचक होता है और उससे व्यक्त अर्थ वाच्य होता है। इस प्रकार शब्द की अभिधा शक्ति से शब्द के वाच्यार्थ की प्रतीति होती है।

शब्द की लक्षणा शक्ति के आधार पर शब्द और अर्थ में 'लक्षक-लक्ष्य' अर्थात् 'लक्ष्य-लक्षक' भाव संबंध होता है। यहाँ शब्द 'लक्षक' होता है और उससे लक्षित अर्थ लक्ष्य होता है। इस प्रकार शब्द की लक्षणा शक्ति से शब्द के लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है।

शब्द की व्यंजना शक्ति के आधार पर शब्द और अर्थ में 'व्यंजक-व्यंग्य' अर्थात् 'व्यंग्य-व्यंजक' भाव संबंध होता है। यहाँ शब्द व्यंजक होता है और उससे व्यंजित अर्थ व्यंग्य होता है। इस प्रकार शब्द की 'व्यंजना' शक्ति से शब्द के व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

वाच्यार्थ वस्तु के एक निश्चित संकेत के रूप में समझ में आता है। लक्ष्यार्थ वस्तु के विशेषता रूपी लक्षण के रूप में समझ में आता है और व्यंग्यार्थ गूढ अभिप्राय के रूप में समझ में आता है।

**2. अभिधा शब्द शक्ति -** अभिधा शब्द की वह शक्ति है जो अर्थ और शब्द के वाच्य-वाचक संबंध को भी व्यक्त करती है। वाचक शब्द को अभिधेय या सांकेतिक या मुख्य कहा जाता है और उससे व्यक्त वाच्यार्थ को अभिधेयार्थ या संकेतार्थ या मुख्यार्थ कहा जाता है।

अभिधा से वाचक शब्द के मुख्य और पहले अर्थ के रूप में वाच्यार्थ समझ में आता है, इसलिए अभिधा शब्द शक्ति को 'मुख्या' या 'अग्रिमा' भी कहा है।

**अभिधा के तीन भेद हैं -**

1. रूढ़ि अभिधा

2. योग अभिधा

3. योग रूढ़ि अभिधा

**वैयाकरणों के अनुसार वाच्यार्थों के प्रकार**

1. जाति रूप अर्थ

2. गुण रूप अर्थ

3. यदृच्छा रूप अर्थ

लक्षणा के मुख्य दो भेद

1. रूढि लक्षणा

2. प्रयोजनवती लक्षणा

व्यंजना शब्द शक्ति की तीन विशेषताएँ -

1. व्यंजना भी शब्द शक्ति है।

2. व्यंजना अर्थ की शक्ति है।

3. व्यंजना शब्द शक्ति अभिधा या लक्षणा के आधार पर ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है।

**ध्वनि सिद्धांत का महत्व**

बीसवीं शती के आरंभ में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ध्वनि को भाषा प्रयोग जैसे तत्व से संयुक्त किया। उन्होंने 'रसज्ञ रंजन' में लिखा है कि - बहुत से ऐसे शब्द हैं जो सामान्य रीति से एक ही अर्थ व्यंजक हैं किंतु विशेष ध्यानपूर्वक देखने अथवा धातु के अर्थ का विचार करने से पृथक पृथक शब्दों में पृथक पृथक शक्तियों का गंभीत रहना प्रकट होता है।'

लक्ष्मी नारायण सुधांशु भी मानते हैं कि इतिहास का काम शुद्ध अभिधा से हो जाता है, पर काव्य में लक्षणा, व्यंजना अपेक्षित हैं। पंडित रामदहिन मिश्र 'संस्कृत साहित्य शास्त्र के ध्वनि संपत्ति से हिंदी काव्य शास्त्र को समृद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इन्होंने रस ध्वनि को काव्य का प्राण कहा है। जिस अर्थ वैलक्षण्य की लोकोत्तर अनुभूति से चित्त एक अनिर्वचनीय अवस्था को प्राप्त कर ले, वह चमत्कार है।"

डॉ. नागेंद्र ध्वनि विचार की मनोवैज्ञानिक सत्यता पर विचार करते हुए कहते हैं कि -

"ध्वनि स्थापना के द्वारा वास्तव में ध्वनिकार ने काव्य में कल्पनातत्व के महत्व की ही प्रतिष्ठा की है।" आचार्य शुक्ल की तरह डॉ. नागेंद्र भी मानते हैं कि रस ध्वनि में रमणीयता आती है।

सुमित्रा नंदन पंत 'पल्लव' की भूमिका में लिखते हैं कि - भाषा संसार का नादमय चित्र है ध्वनि मय रूप है। यह विश्व के हृतंत्री की झंकार है - जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है।"

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का ध्वनि विवेचन भी रसाप्रित है - ध्वनि सिद्धांत का आविर्भाव - वास्तव में रस की व्याख्या के लिए किया गया। उसे स्वयं में कोई संप्रदाय नहीं कहा जा सकता। काव्य में रस की निष्पत्ति का विवेचन करते हुए रस ने प्रति पत्ति की कि रस ध्वनित होता है अर्थात् अनुभूत होता है। ध्वनि मत के द्वारा रस सिद्धांत की जो पुनः प्रतिष्ठा हुई और उसे जो पूर्णता तथा व्याप्ति मिली, उसके कारण भारतीय मानस को उसने सर्वाधिक आकृष्ट किया।"

प्रगितवादी समीक्षा में व्यंग्य, व्यक्ति, धर्म, समाज और व्यवस्था के प्रति है।

प्रगतिवादी समीक्षक यह मानने लगे कि - ध्वनि के सौंदर्य को यदि विषयगत सौंदर्य से अलग मानकर शैली गत सौंदर्य से उसका संबंध स्थापित किया जाए तो रस बिंब और उदात्त सिद्धांतों से इसका पार्थक्य हो

जाएगा।"

ध्वनि, लय, अनु गूँज सारे मूल्य आज की समीक्षा के अनिवार्य तत्व हैं, भले ही वस्तु और 'कवि प्रतिक्रिया' कवि की भाव विचार संवेदना में अलग-अलग आती हो, किंतु अभिव्यंजना में घुल मिल जाती है। आजकी कविता में अभिधा तो व्यक्त होती ही नहीं, इसलिए व्यंजना कविता का एक महत्वपूर्ण उपादान है और रहेगा।

**वक्रोक्ति सिद्धांत**

वक्रोक्ति सिद्धांत का उदय आकस्मिक नहीं है, वह एक लंबी परंपरा की चरम परिणति है। इस संप्रदाय के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने पर सर्व प्रथम नाम बाणभट्ट का आता है। 'कादंबरी' में प्रयुक्त इस शब्द का 'भंगी विच्छित्ति' अर्थ ही प्रासंगिक है। भामह वक्रोक्ति को व्याख्यायित करने वाले पहले आचार्य हैं। उनकी दृष्टि में काव्य की आत्मा तो अलंकार है लेकिन उन अलंकारों के मूल में है वक्रोक्ति।

'वक्राभिध्येयशब्दोक्तिरिष्टा वाचमलंकृतिः।'

अर्थात् वक्रोक्ति के अभाव में अलंकारों के सौंदर्याध्यायक तत्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

आचार्य दंडी ने संपूर्ण वाङ्मय को 'स्वभावोक्ति' और 'वक्रोक्ति' ऐसे दो भागों में विभक्त किया है। 'स्वभावोक्ति' को आदि अलंकार मानते हुए भी वह वक्रोक्ति की महत्ता कम नहीं करते क्यों कि वक्रोक्ति के आश्रय से ही समस्त अलंकारों का संपोषण होता है।

**परिभाषा**

आचार्य कुंतक ने आनंद वर्धन के पश्चात् 'वक्रोक्ति जीवित' नामक ग्रंथ में 'वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन है' (वक्रोक्ति काव्य जीवित्म) ऐसा कहकर संस्कृत काव्यशास्त्र में न ये वक्रोक्ति सिद्धांत की स्थापना की और वक्रोक्ति संप्रदाय का प्रवर्तन भी किया जिससे इस सिद्धांत के साथ-साथ 'वक्रोक्ति की अवधारणा' भी स्पष्ट होती रही।

**कुंतक पूर्व वक्रोक्ति विचार -** कुंतक पूर्व काल में वक्रोक्ति की चर्चा आचार्य भामह ने सर्व प्रथम अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में काव्य संबंधी अलंकार में निहित मूल सौंदर्य के रूप में वक्रोक्ति की अवधारणा की है। इस कारण से भामह ने व्यापक अर्थ में वक्रोति का प्रयोग करते हुए काव्य के समस्त सौंदर्य के रूप में वक्रोक्ति को महत्व दिया। उनकी दृष्टि से वक्रोक्ति युक्त होने पर काव्य काव्य बना रहता है। इसके विरुद्ध वक्रोक्ति रहीत होने पर काव्य 'वार्ता' मात्र बना रहता है। इसलिए उन्होंने वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन माना है।

इसलिए भामह का कहना है -

सैषा सर्वत्र वाक्रोक्तिः अनयार्थो विभाव्यते।

यत्नोस्यां कविता कार्याः को ऽ लंका ऽ रो नया बिना।

भामह ने काव्य की दृष्टि से वक्रोक्ति को महत्व पूर्ण मानते हुए शब्द और अर्थ इन दोनों की समान्वित रूप वक्रताकाही वक्रोक्ति माना है। उन्होंने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को समान अर्थ में प्रयोग करते हुए उनके लक्षण में अंतर को अस्वीकार किया है। उन्होंने अतिशयोक्ति का अर्थ 'लोकातिक्रांत गोचरा' अर्थात् लोक सामान्य

से विचित्र उक्ति लिया है। इससे स्पष्ट होता है कि भामह की दृष्टि में अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति एक दूसरे के पर्याय वाची हैं क्योंकि उन्होंने अतिशयोक्ति अलंकार के लक्षण को ही वक्रोक्ति के भी लक्षण के रूप में महत्व दिया है।

आचार्य दंडी ने भी काव्य के संदर्भ में वक्रोक्ति को महत्वपूर्ण माना है और उसकी अवधारणा को लेकर तीन महत्वपूर्ण बातें व्यक्त की हैं।

दंडी ने अपने ग्रंथ 'काव्यादर्श' में समस्त वाङमय को 'स्वभावोक्ति' और 'वक्रोक्ति' इन दो भागों में स्वीकार करते हुए कहा है -

"द्विधा भिन्न स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।"

दंडी के मतानुसार वस्तु का साक्षात् या सहजवर्णन स्वभावोक्ति है, जो काव्य की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। लेकिन वक्रोक्तिकाव्य की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण होती है, जो वस्तु का वक्र अर्थात् चमत्कार पूर्ण वर्णन होती है और जो उपमादि अलंकारों से युक्त होती है। काव्य में वक्रोक्ति रूप चमत्कार उसके अलंकार युक्त रूप का आधार होता है। दंडी ने काव्य में अलंकार युक्त रूप से निष्पन्न चमत्कार में किसी न किसी रूप में श्लेष के योग को और श्लेष को वक्रोक्ति के आश्रित होने को भी स्वीकार किया है। उन्होंने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति में अभेद को स्वीकार किया है।

आचार्य वामन ने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार सूत्र वृत्ति' में वक्रोक्ति को एक अर्थालंकार के रूप में स्वीकार करते हुए 'सादृश्य लक्षणा' को ही वक्रोक्ति माना है। वैसे तो अभिधा से अलग होने के कारण लक्षणा में वक्रता होती ही है। लेकिन आचार्य वामन ने केवल 'सादृश्य लक्षणा' में वक्रता को स्वीकार कर वक्रोक्ति को सीमित कर दिया।

आचार्य रूद्रट ने भी वक्रोक्ति को बहुत सीमित कर दिया। क्योंकि उन्होंने वक्रोक्ति को अर्थालंकार के रूप में स्वीकार न करते हुए केवल एक शब्दालंकार के रूप में स्वीकार किया और उसके दो भेद किए जो इस प्रकार हैं - 'भंगश्लेष वक्रोक्ति और काकुवक्रोति।'

आचार्य आनंदवर्धन ने भी भामह और दंडी के समान वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति में भिन्नता को अस्वीकार किया है। उनकी दृष्टि से वक्रोक्ति रूप अतिशयोक्ति सभी अलंकारों के मूल में होती है। अर्थात् सभी अलंकार अतिशयोक्ति गर्भित होते हैं। काव्य में अलंकारों के साथ चारूत्वातिशययोग अर्थात् सौंदर्यातिशययोग का कारण बननेवाली अतिशयोक्ति कवि प्रतिभा जन्य होती है। इस प्रकार की मान्यता का निर्देश करने के लिए ही आनंद वर्धन ने अपने ग्रंथ 'धन्यालोक' में कहा है -

अतिशयोक्ति गर्भता सर्वलंकारेषु शक्य क्रिया।

तत्रातिशयोक्तिर्य मलंकारमधितिष्ठति कविप्रनिभाव

शात्तस्य चारूत्वातिशय योगो न्यस्य त्वलं ऽ कारमात्र तैवेति।

वक्रोक्ति - कुंतक द्वारा वक्रोक्ति की महत्वपूर्ण चर्चा - आचार्य कुंतक ने अपने वक्रोक्तिजीवित नामक

ग्रंथ में वक्रोक्ति की अवधारणा और वक्रोक्ति के भेदों की अत्यंत महत्वपूर्ण चर्चा की है, जिस से संस्कृत काव्य शास्त्र में वक्रोक्ति सिद्धांत के साथ वक्रोक्तिसंप्रदाय भी प्रचलित हो गया।

इस विषय में कुंतक ने कुछ महत्वपूर्ण बातों को स्पष्ट किया है।

1. आचार्य कुंतक ने काव्य के छोटे से छोटे स्वरूप से लेकर बडे से बडे स्वरूप में भी वक्रोक्ति की व्याप्ति का स्वीकार किया और वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवन माना - 'वक्रोक्ति काव्य जीवितम्' उनकी दृष्टि में काव्य के सभी अंगों (वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण प्रबंध आदि) में व्याप्त रहनेवाली वक्रोक्ति ही काव्य को काव्य बन ा देती है। इसलिए उन्होंने वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवन माना है और काव्य की आत्मा के रूप में वक्रोक्ति को सम्मानित किया है।

आचार्य कुंतक के मतानुसार प्रसिद्ध अर्थात् साधारण उक्ति से भिन्न वैचित्र्यपूर्ण वक्र उक्ति होती है।

आचार्य कुंतक की मान्यता के अनुसार वक्रोक्ति वैचित्र्यपूर्ण उक्ति अर्थात् वैदग्ध्ययुक्त अर्थात् विदग्ध भाव से युक्त उक्ति होती है। जिसकी वैचित्र्यपूर्णता अर्थात् वैदग्ध्य युक्तता कवि के चमत्कारपूर्ण कर्म कौशल पर आधारित होती है। अर्थात् कवि के चमत्कारपूर्ण कर्म कौशल के अभाव में वक्रोक्ति का भी अभाव होगा।

आचार्य कुंतक ने काव्य के रूप में उसी वक्रोक्ति को महत्व दिया है, जो कवि के चमत्कारपूर्ण कर्म कौशल के आधार पर सहृदय को आल्हादित करने में सफल हो जाती है।

कुंतक ने वक्रोति की परिभाषा दी है -

शब्दार्थो सहितौ वक्र कविव्यापार शालिनी।

बंधे व्यवस्थितौ काव्यम् तद्विदाहलादकरिणी।

अर्थात् काव्य वह है जो शब्द और अर्थ से सहित, कवि के वक्र अर्थात् चमत्कार पूर्ण व्यापार अर्थात् कौशल से युक्त, व्यवस्थित बंधा और सहृदय को आह्लादित करने वाला होता है। इस प्रकार कुंतक ने काव्य और उसका आधार बनने वाली वक्रोक्ति को भी आहलादकारी रूप में महत्व दिया है। अर्थात् कोई भी वक्रोक्ति अर्थात् आह्लादित करने में असमर्थ वक्रोक्ति काव्य नही बन सकती।

आचार्य कुंतक ने काव्य और वक्रोक्ति के आहलादत्व को महत्व देकर सहृदय को भी महत्व दिया है। क्योंकि सहृदय ही वक्रोक्तियुक्त काव्य में आनंद पाने में सफल होता है।

इन महत्वपूर्ण बातों से स्पष्ट होता है कि आचार्य कुंतक काव्य को काव्य बनकर रह जाने के लिए और उससे सहृदय को आनंद मिलने के लिए उसमें कवि के वक्र व्यापार से युक्त अर्थात् कवि के प्रतिभाजन्य चमत्कारपूर्ण कर्म कौशल से युक्त वक्रोक्ति के होने को अनिवार्य माना है। इसी कारण से उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन माना है।

**कुंतक के बाद** परवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन नहीं माना। आचार्य अभिनवगुप्त ने शब्द अर्थ की वक्रता के रूप में वक्रोक्ति को स्वीकार किया और उसमें 'अतिशय स्थिति' को महत्व दिया। आचार्य

भोज ने अपने ग्रंथ - 'शृंगार प्रकाश' में वक्रोक्ति को एक वाङ्मय प्रकार के रूप में स्वीकार किया।

आचार्य मम्मट ने वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार के रूप में स्वीकार किया और उसके 'काकु वक्रोक्ति' तथा 'श्लेष वक्रोक्ति' इन दो भेदों को भी माना। **आचार्य रूय्यक** ने वक्रोक्ति को 'अर्थालंकार विशेष' के रूप में ही स्वीकार किया। आचार्य हेमचंद्र और आचार्य विश्वनाथ, आचार्य उप्पय दीक्षित ने वक्रोक्ति को केवल अर्थालंकार-विशेष माना है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि - कुंतक के पूर्ववर्ती आचार्यों ने काव्यालंकारों के मूल में वक्रोक्ति को स्वीकार किया है और वक्रोक्ति के लक्षण सदृश्य अतिशयोक्ति अलंकार के लक्षण को मान्य किया है।

कुंतक के परवर्ती आचार्यों में से कुछ आचार्यों ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार विशेष के रूप में मान्य किया है, तो कुछ आचार्यों ने शब्दालंकार विशेष के रूप में मान्य किया है। आगे चलकर तो वक्रोक्ति केवल शब्दालंकार-विशेष के रूप में ही पहचानी जाने लगी।

केवल आचार्य कुंतक ने ही वक्रोक्ति को काव्य का जीवन माना है और व्यापक रूप में वक्रोक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

इसलिए कुंतक को वक्रोक्ति सिद्धांत तथा वक्रोक्ति संप्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है।

**वक्रोक्ति के भेद**

वक्रोक्ति को काव्य का जीवन मानकर वक्रोक्ति सिद्धांत की स्थापना करनेवाले आचार्य कुंतक के मतानुसार वक्रोक्ति के छः मुख्य भेद हैं, जो इस प्रकार हैं -

1. वर्ण विन्यास वक्रता 2. पद पूर्वार्धवक्रता

3. पद परार्धवक्रता 4. वाक्य वक्रता

5. प्रकरण वक्रता और 6. प्रबंध वक्रता।

पद पूर्वार्ध वक्रता और उसके भेद -

अ) रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता आ) पर्याय वक्रता

इ) उपचार वक्रता ई) विशेषण वक्रता

उ) संवृत्ति वक्रता ऊ) वृत्ति वक्रता

ए) लिंग वैचित्र्य वक्रता ऐ) क्रिया वैचित्र्य वक्रता

**पद परार्ध वक्रता और उसके भेद -**

त) काल वौचित्र्य वक्रता थ) कारक वैचित्र्य वक्रता

द) वचन वैचित्र्य वक्रता ध) पुरूष वैचित्र्य वक्रता

न) उपग्रह वक्रता ण) प्रत्यय वक्रता

## वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति

वक्रोक्ति भी विशिष्ट उक्ति है और स्वभावोक्ति भी विशिष्ट उक्ति है। 'वक्र उक्ति' अर्थात् वक्रतायुक्त उक्ति वक्रोक्ति है। इसकी वक्रता चमत्कार पूर्ण अर्थात् लोकमान्यता के अतिक्रमण - (लोकातिक्रम) पर आधारित होती है। दुसरी ओर 'स्वभाव उक्ति' अर्थात् 'स्वाभाविकता युक्त उक्ति' स्वभावोक्ति है। काव्य के वाक्यत्व की चर्चा में वक्रोक्ति के साथ स्वभावोक्ति का भी उल्लेख होना स्वाभाविक है।

### वक्रोक्ति और अभिव्यंजना

भारतीय काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति - सिद्धांत की स्थापना करने वाले आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन मानकर परोक्ष रूप से काव्य की वक्रोक्ति ही अर्थात् विशिष्ट अभिव्यंजना ही माना है।

कुंतक के अनुसार काव्यरूपी शब्दार्थ मय - अभिव्यंजना अभिव्यंजन का वक्रोक्ति रूपी होना ही उसकी सफलता है और काव्य का रसास्वादन करने वाले सहृदयों को आल्हादित कर देना ही उसका उद्देश्य है।

### औचित्य सिद्धांत

आचार्य क्षेमेंद्र ने ईसा की ग्यारहवीं शती के मध्य काल में अपनी विशिष्ट मान्यता के अनुसार 'औचित्य विचार चर्चा' नामक ग्रंथ का निर्माण कर संस्कृत काव्यशास्त्र में एक महत्वपूर्ण काव्य सिद्धांत की स्थापना की। वास्तव में उनसे पहले काव्य के संदर्भ में औचित्य की सीमीत चर्चा होती रही है। परंतु 'औचित्य' को एक काव्य सिद्धांत के रूप में सम्मानित करने का महत्वपूर्ण कार्य आचार्य क्षेमेंद्र ने ही किया है। इस कारण से औचित्य सिद्धांत के साथ आचार्य क्षेमेंद्र का नाम अभिन्न रूप से जुड़ गया है।

आचार्य क्षेमेंद्र ने अपनी मान्यता के अनुसार औचित्य की अवधारणा इस प्रकार की है –

'उचित प्राहुराचार्याः सदृश्यं किल यस्ययत्।

उचितस्थ च यो भावः तदौचित्यं प्रत्यक्षते।।

अर्थात् जो जिसके अनुरूप होता है, उसे ही आचार्य उचित कहते हैं। इसलिए 'उचित का भाव' ही औचित्य कहलाता है। अपनी औचित्य विषयक इस प्रकार की अवधारणा के कारण ही क्षेमेंद्र ने विविध काव्यांगों की प्रभावशाली संगति को ही काव्य के लिए अनिवार्य औचित्य के रूप में स्वीकार किया है। काव्य में उसके विविध अंगों की संगति का होना ही क्षेमेंद्र के अनुसार औचित्य का अत्यंत महत्वपूर्ण लक्षण है।

### आचार्य क्षेमेंद्र पूर्व औचित्य

आचार्य क्षेमेंद्र के अनुसार 'उचित का भाव' ही औचित्य है। अपनी औचित्य विषयक इस प्रकार की अवधारणा के कारण ही क्षेमेंद्र ने विविध काव्यांगों की प्रभावशाली संगति को काव्य के लिए अनिवार्य माना है। इसका अर्थ है कम से कम परस्पर संबंधित दो का एक दूसरे के अनुरूप (सदृश्य) होना ही औचित्य है। क्योंकि परस्पर संबंधित दो की अनुरूपता (सादृश्यता पर) ही किसी का सुघड अस्तित्व बना रहता है। इस प्रकार की वास्तविकता के कारण ही आचार्य भरत ने सर्व प्रथम अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य की सुघडता अर्थात् सुंदरता के लिए नाट्य से संबंधित अंगों में अनुरूपता अर्थात् औचित्य को अधिक महत्वपूर्ण माना है।

आचार्य भरत ने नाट्य के आत्मतत्व के रूप में रस को महत्वपूर्ण माना है और रस के प्राणतत्व के रूप में भाव के महत्व को स्वीकार किया है। भरत मुनि ने अपने समग्र रूप में प्रभावशाली बने रहने के लिए नाट्य में उसकी विभिन्न अंगों की अनुरूपता को महत्वपूर्ण मानकर 'औचित्य' के महत्व को ही स्वीकार किया है। स्पष्ट है कि आचार्य भरत ने ही सबसे पहले शब्दार्थ - संयोग रूपी तथा अभिनेय साहित्य कला में औचित्य के निर्वाह को महत्वपूर्ण माना है। उन्होंने अनौचित्य की स्थिति को महत्वपूर्ण माना है। इस प्रकार औचित्य-सिद्धांत का आरंभ आचार्य भरत से ही हुआ है।

**अलंकार वादी आचार्य भामह** ने परोक्षरूप से काव्य में अदोषत्व को अर्थात् अनौचित्य को स्वीकार कर औचित्य का ही समर्थन करने के लिए ही दोषयुक्त उक्ति को शोभाहीन माना है। अर्थात् उनकी दृष्टि में काव्य की शोभा उसके दोष रहीत होने में अर्थात् औचित्यपूर्ण होने में ही है।

**अलंकार वादी आचार्य दंडी** ने भी दोष परिहार के रूप में औचित्य के पालन को काव्य में महत्वपूर्ण माना है। अलंकार वादी आचार्य रूद्रट ने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में रसौचित्य, अलंकरौचित्य वृत्ति औचित्य का स्पष्ट रूप से समर्थन करते हुए काव्य के भिन्न-भिन्न अंगों में औचित्य को स्वीकार किया है। उन्होंने रसौचित्य का विशेष महत्व बताया है।

ध्वनिवादी आचार्य आनंद वर्धन ने काव्य में औचित्य का महत्व स्पष्ट करते हुए औचित्य तत्व की बहुत व्यापक चर्चा की है। उन्होंने काव्य की मार्मिकता के लिए उसके भिन्न-भिन्न अंगों में औचित्य को आत्यावश्यक माना है। उन्होंने काव्य में 'रसौचित्य' को सब से अधिक महत्वपूर्ण माना है। उनका आग्रह है सर्गबद्ध काव्य में रस के अनुकूल औचित्य का पालन होना चाहिए। इसलिए आनंदवर्धन का दृढ विश्वास है कि अनौचित्य ही रसभंग का कारण होता है और औचित्य का निर्वाह ही रस का प्रमुख आधार होता है -

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।

प्रसिद्धौचित्य बंधस्तु रसस्योपनिषात् परा।

(ध्वन्यालोक)

अर्थात् अनौचित्य के सिवा रसभंग का कोई दूसरा कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का पालन ही रस का परम रहस्य है।

अपनी इस प्रकार की मान्यता के आधार पर ही आनंदवर्धन औचित्य को एक महत्वपूर्ण काव्य तत्व के रूप में सिद्ध करने में सफल हुए हैं। वे अपनी औचित्य संबंधी मान्यता को लेकर ही काव्य के भिन्न भिन्न अंगों में औचित्य की महत्ता स्पष्ट कर सके हैं। उन्होंने संपूर्ण औचित्य के केंद्र में रसौचित्य को ही रखा है।

**आचार्य अभिनव गुप्त** ने भी औचित्य के महत्व को स्वीकार किया है और काव्य में रस, ध्वनि और औचित्य का परस्पर महत्वपूर्ण संबंध स्पष्ट किया है। अभिनव गुप्त के अनुसार रस, ध्वनि और औचित्य ही काव्य के अनिवार्य तत्व हैं। उन्होंने काव्य के रस को आत्म तत्व के रूप में महत्वपूर्ण माना है। उनकी दृष्टि में औचित्य इसलिए महत्वपूर्ण है कि उसके आधार पर रस और ध्वनि एक दूसरे के अनुरूप सादृश्य होकर अत्याधिक मार्मिक बन जाते हैं। उसी के परिणाम स्वरूप काव्य अत्याधिक प्रभावशाली बन जाता है। उसके अनुसार काव्य में औचित्य

भंग हानिकर होता है। इसलिए अभिनव गुप्त का कहना है कि - औचित्यभंग काव्य, काव्याभास, रसौचित्य रसाभास, औचित्यभंग भाव भावाभास (ध्वन्यालोक लोचन) अर्थात् औचित्य भंग के परिणाम स्वरूप काव्य काव्याभास बन जाता है, रस रसाभास बन जाता है और भाव भावाभास बन जाता है। ऐसा न हो इसलिए काव्य में औचित्य का होना अत्यंत महत्वपूर्ण है।

वक्रोतिवादी आचार्य कुंतक ने भी वक्रोक्ति के भेदों के संदर्भ में औचित्य पालन को अत्यावश्यक माना है। उन्होंने औचित्य के आधार पर ही प्रबंध वक्रता, प्रकरण वक्रता, पदवक्रता आदि का विचार किया है। इसलिए उन्होंने एक स्थल पर जहाँ पद होता है, वहाँ औचित्य होता है ऐसा कहा है। (तत्र पदस्य तावत् औचित्यं)

रसवादी आचार्य महिम भट्ट ने अपने ग्रंथ 'व्यक्ति विवेक' में काव्य की मार्मिकता के लिए औचित्य का समर्थन किया है। उनकी मान्यता के अनुसार रसात्मक काव्य में औचित्य होता ही है। यदि ऐसा न होता तो काव्य का रसात्मक होना असंभव है। वे कहते हैं कि 'रसात्मक काव्य में अनौचित्य का संस्पर्श संभव नहीं होता - 'रसात्मक'च काव्य मिति कुतस्तत्रौचित्य संस्पर्श संभाव्यते।' अर्थात् रसात्मक काव्य में अनौचित्य का संस्पर्श संभव नहीं होता।

महिम भट्ट ने काव्य में दोषों का कारण अनौचित्य ही माना है और दूसरे प्रकार के अनौचित्य के रूप में शब्द अनौचित्य को स्वीकार किया है।

इस प्रकार औचित्य-विषयक पूर्व मतों को ध्यान में रखकर ही आचार्य क्षेमेंद्र ने अपने औचित्य-सिद्धांत की स्थापना एक काव्य सिद्धांत के रूप में की है।

**आचार्य क्षेमेंद्र का औचित्य विचार**

काव्य के संदर्भ में औचित्य विचार - आचार्य क्षेमेंद्र से पूर्व रससिद्धांत, अलंकार सिद्धांत, रीति सिद्धांत, ध्वनि सिद्धांत और वक्रोक्ति सिद्धांत को काव्य के रमणीय काव्यत्व अर्थात् काव्य सौंदर्य को पहचानने की दृष्टि से प्रमुख काव्य सिद्धांतों के रूप में स्वीकार किया जा चुका था। ऐसी स्थिति में आचार्य क्षेमेंद्र ने काव्य के रमणीय काव्यत्व अर्थात् काव्य सौंदर्य को समझने की दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र में छटे काव्य सिद्धांत के रूप में अपने औचित्य सिद्धांत की महत्वपूर्ण स्थापना की है। इसे स्पष्ट करने के लिए क्षेमेंद्र ने 'औचित्य विचारचर्चा' नामक ग्रंथ का निर्माण किया है। उन्होंने इस ग्रंथ में स्पष्ट किया है कि काव्य के प्रत्येक अंग, उपांग, शब्द, अर्थ, वर्ण, पद, रीति, गुण, लिंग, वचन, वाक्य, भाव, रस, अलंकार, प्रसंग, प्रबंध व्यवहार, विचार, विषय आदि सब में औचित्य की स्थिति का होना अनिवार्य है। यहाँ क्षेमेंद्र ने अपने विधायक दृष्टिकोण के आधार पर ही काव्य सिद्धांत के रूप में औचित्य सिद्धांत की स्थापना की है। आचार्य क्षेमेंद्र औचित्यवादी होते हुए भी -मूलतः रसवादी आचार्य थे। उन्होंने काव्य के आत्मतत्व के रूप में रस को स्वीकार किया। क्षेमेंद्र के अनुसार औचित्य काव्य के आत्मतत्व रूपी रस का जीवन है। औचित्य रससिद्ध काव्य का जीवन है। इस दृष्टि से आचार्य क्षेमेंद्र का कथन है -

अलंकारस्त्व लंकारा गुणा एव गुणाः सदा।

औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।

अर्थात् 'अलंकार अलंकार ही है। और गुणसदा गुण ही है। रस सिद्‌ध काव्य का स्थिर जीवन तो औचित्य है।"

क्षेमेंद्र के मतानुसार औचित्य के होने पर काव्य का आस्वादनीय तत्व रस अत्याधिक आस्वादनीय बनकर सब हृदयों में व्याप्त हो जाता है। क्षेमेंद्र ने अपने औचित्य सिद्‌धांत में रसौचित्य को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है और काव्य में रस और औचित्य के अनिवार्य अन्योन्याश्रित संबंध को स्वीकार किया है। यहाँ स्पष्ट होता है कि आचार्य क्षेमेंद्र की दृष्टि में रस सिद्‌ध काव्य ही काव्य है और ऐसे काव्य में रस की सिद्‌धि के लिए अनिवार्य रूप से जिस औचित्य का निर्वाह किया जाता है वह औचित्य उस काव्य का स्थिर जीवन होता है। इसलिए काव्य के साथ आत्मतत्व के रूप में रस और जीवित तत्व के रूप में औचित्य का अभिन्न और परस्पर पूरक संबंध है।

क्षेमेंद्र के अनुसार औचित्य के बिना इस प्रकार की हास्यास्पद स्थिति निर्माण होगी -

'कण्ठे मेखलया नितंब फलके तारेण हारेण वा,

पाणौ नूपुर बंधनेन चरणे केयूर पाशेन वा।

शौर्येण प्रणते रिपौ करूणया नायन्ति के हास्यताम्,

औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृति नों गुणाः।

अर्थात् यदि कोई सुंदरी अपने गले में मेखला या नितंबफलक पर हार या हाथों में नुपूर या पैरों में केयूर पहनेगी तो उसकी इस प्रकार की अलंकार धारणा पद्‌धति तो किसी को भी हास्यस्पद लगेगी।

इसलिए क्षेमेंद्र के अनुसार काव्य में उचित स्थान पर ही अलंकारों तथा गुणों का प्रयोग औचित्य का निर्वाह कर रूचिकर बनने में सफल हो जाता है।

**काव्यांगों के संदर्भ में औचित्य विचार**

आचार्य क्षेमेंद्र ने 27 काव्यांगों को स्वीकार किया है - वे क्रमानुसार इस प्रकार हैं - पद, वाक्य, प्रबंध, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्व, सत्व, अभिप्राय स्वभाव, सार संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशीर्वचन। ये सत्ताइस काव्यांग हैं इनका जीवन है औचित्य। (काव्यस्याऽङेषु च प्राहुर औचित्यं व्यापि जीवितम्।) इसी प्रकार काव्य के भाव तत्व एवं कलातत्व के संदर्भ में भी औचित्य का निर्वाह होना चाहिए। व्याकरण और कल्पना विधान के संदर्भ में भी क्षेमेंद्र ने औचित्य का समर्थन किया है।

**औचित्य सिद्‌धांत का स्वतंत्र महत्व**

आचार्य क्षेमेंद्र ने अपने विधायक दृष्टिकोण को लेकर ही स्वतंत्र काव्य-सिद्‌धांत के रूप में औचित्य-सिद्‌धांत की स्थापना की है। क्षेमेंद्र की मान्यता के अनुसार कवि के पास जो औचित्य दृष्टि होती है वही काव्य सृजन की प्रक्रिया का नियंत्रण कर निर्दोष, औचित्यपूर्ण तथा मार्मिक काव्य का सृजन करने में सफल हो जाती है। इसी के परिणाम स्वरूप ही काव्य एक कलात्मक कृति अर्थात् एक सौंदर्य कृति बनता है। जिस औचित्य

सिद्धांत का मूलभूत आधार कवि की अपनी सौंदर्य विधायिनी औचित्य दृष्टि है, वह काव्य सिद्धांत अपना स्वतंत्र महत्व रखता ही है। भारतीय काव्य सिद्धांतों में 'औचित्य सिद्धांत' का अपना स्वतंत्र महत्व है।

**काव्यांगों में औचित्य युक्त संगति**

काव्य सिद्धांतों के रूप में औचित्य सिद्धांत की स्थापना करने वाले आचार्य क्षेमेंद्र ने काव्य के सभी अंगों में संगति स्थापित करने के लिए औचित्य का निर्वाह अनिवार्य माना है। उनकी दृष्टि में तो औचित्य युक्त काव्यांगों की संगति ही काव्य के सौंदर्य का आधार है। इसी से कवि अपनी औचित्य-दृष्टि के अनुसार अपने काव्य में विभिन्न काव्यांगों में संगति की स्थापना करने में सफल हो जाता है।

**निष्कर्ष -** वास्तव में काव्यांगों की औचित्य युक्त संगति को क्षेमेंद्र से पूर्व आचार्य आनंद वर्धन ने अत्यधिक महत्व पूर्ण सिद्ध किया है। उनसे भी पहले आचार्य भरत ने विविध नाट्यांगों की संगति को महत्वपूर्ण माना था। उन्होंने रसानुकूल ही नाट्यांगों की संगति को औचित्य के आधार पर ही स्वीकार किया था। उसको रसानुकूल ही नाट्यांगों की औचित्ययुक्त संगति अपेक्षित थी।

आचार्य भट्टलोल्लट ने भी विशेष कर महाकाव्य के विभिन्न अंगों में रसानुरूप संगति को महत्वपूर्ण माना है। आचार्य रूद्रट ने भी रस, अलंकार, और वृत्ति इन काव्य के तीन महत्वपूर्ण अंगों में औचित्य युक्त संगति का समर्थन किया है। आचार्य आनंद वर्धन ने प्रबंध काव्य में रसौचित्य का निर्वाह करने के लिए ऐतिहासिक कथावस्तु में भी रसानुरूप परिवर्तन करने को और उसके स्थान पर कल्पित कथा भाग के प्रयोग को स्वीकार किया है। आनंद वर्धन ने काव्य के सभी अंगों की औचित्य युक्त संगति का प्रबल समर्थन किया है। उनकी दृष्टि में काव्यांगों की औचित्य युक्त संगति का अर्थ है उन सबकी रसानुरूपता। यह रसानुरूपता काव्य में उस रसौचित्य का निर्वाह करती है, जो काव्य का आत्मतत्व है।

## पाश्चात्य काव्य शास्त्र

**पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विकासक्रम का संक्षिप्त परिचय -** काव्य मानव जाति की अत्यंत महत्वपूर्ण उपलब्धि है। एक दृष्टि से इसका महत्व धर्म और दर्शन से भी अधिक है। धर्म और दर्शन की स्वीकृति सार्वभौम नहीं होती जब कि काव्य की स्वीकृति एक सार्वभौम सत्य है। किसी भी देश और किसी भी काल का उत्कृष्ट काव्य मानव मात्र को प्रभावित करने की क्षमता से युक्त होता है। इसीलिए काव्य का महत्व शाश्वत होता है। देश और काल की सीमा से परे होता है।

यहीं यह सवाल पैदा होता है कि ऐसे कौन-से तत्व हैं जिनके कारण काव्य देश और काल की सीमा का अतिक्रमण करके मानव मात्र को प्रभावित एवं आंदोलित किया करता है? अगर काव्य का महत्व सनातन है तो इस सनातन महत्व के रहस्य को भी खोज पाना संभव होना चाहिए। इसलिए प्राचीन ग्रंथों की सहायता से इस रहस्य को खोजा जा सकता है। विश्व में उपलब्ध प्राचीनतम ग्रंथों से विशेष रूप से वे धर्म ग्रंथ हैं, हमें कई स्थलों पर काव्य की विशेषताएँ भी मिलती हैं।

जिस प्रकार भारतीय भूमि में भरत मुनि ने जब नाट्यशास्त्र का निर्माण चारों वेदों के आधार पर किया था और उसे पाँचवा वेद माना गया था पश्चिम में भी प्राचीन काल में नाटक का विशेष महत्व माना गया था। कुछ

विद्वानों के अनुसार तो प्राचीन यूनान में नाटक धार्मिक उत्सवों से घनिष्ठ रूप से संबंद्ध रहा है। इसी संबंध के आधार पर अरस्तू के विवेचन सिद्धांत की धर्म-परक व्याख्या की गई हैं।

प्राचीन यूनान का साहित्य अत्यंत समृद्ध और अनेक रूप है। लेकिन आलोचन के लिए प्रधान ग्रंथ नाटक और महाकाव्य ही है। होमर के महाकाव्य - 'दि इलियड' और 'दि ओडिसी' विश्व विख्यात हैं। इसी प्रकार अरिस्टोफेनस, एस्काइलस, सोफोक्लेस तथा यूरिपाइडीज की नाट्यरचनाएँ रचनात्मक एवं प्रभाव की दृष्टि से उत्कृष्ट साहित्य की स्थायी निधि हैं। इस संपूर्ण साहित्य में जीवन की अनेक समस्याओं का, द्वंद्वों और विषमताओं का तथा व्यक्ति एवं नियति नाम की किसी अदृश्य एवं शक्तिमान सत्ता का संघर्ष चित्रित किया गया है।

परवर्ती काल में जब काव्य चिंतन आरंभ हुआ तो यही साहित्य उसका आधार बना। मगर इन कवियों में काव्य के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण संकेत मिलते हैं, जिनका विकास परवर्ती काव्य चिंतन में दिखाई देता है।

प्राचीन यूनान में कवि के साथ-साथ कविता का पाठ करने वालों की भी परंपरा रही है, जो विशिष्ट समारोहों में, राजदरबारों में या अन्य सभाओं में महान काव्यों के अंशों का पाठ किया करते थे। वे श्रोताओं को गंभीर रूप से प्रभावित करते थे।

प्लेटो, अरस्तू, लोंजाइनस, होरेस आदि ने काव्य से विशेषकर नाटक से संबद्ध विविध समस्याओं पर विचार किया। उस युग में प्रधानता नाटक की ही रही। उन नाटकों में भी त्रासदी (tragedy) को ही विशेष महत्वपूर्ण माना गया। इसका परिणाम यह हुआ कि यूनानी एवं रोमी काव्य शास्त्र पर त्रासदी का प्रभाव सबसे अधिक है। यद्यपि प्लेटो ने साहित्य के संबंध में सामान्य प्रश्नों के विवेचन पर अधिक बल दिया है, मगर अरस्तू के काव्य-विवेचन का प्रधान आधार त्रासदी साहित्य ही रहा है। नाटक को काव्य शास्त्र का प्रधान आधार बनाने के ऐतिहासिक कारण हैं। जिस प्रकार प्राचीन भारतीय काव्य शास्त्र में नाटक ही विवेचन का प्रधान विषय बना। उसी प्रकार प्राचीन यूनान के काव्यशास्त्र में भी नाटक के विवेचन की ही प्रधानता रही। इसे महज एक संयोग नहीं कहा जा सकता। इस के कारणों को सहज ही समझा जा सकता है, पहला कारण यह है कि प्राचीन संस्कृति में चिंतन एवं कला का केंद्र मानव रहा जो स्वाभाविक ही था। जैसे - जैसे मानव नाम के प्राणी की शक्ति बौद्धिक रूप में विकसित हुई होगी उसने अपने आप को ही केंद्र बनाकर सोचना शुरू किया होगा। शायद सबसे पहला सवाल सुरक्षा का हुआ होगा, फिर तो एक लंबी तालिका से उसे जूझना पड़ा होगा।

परंतु मुख्य प्रश्न तो ये हैं कि मानव का जीवन व्यक्ति और समाज का जीवन कैसे सुरक्षित हो सकता है? व्यक्ति और समाज के आदर्श क्या हैं? मानव और अदृश्य शक्ति का संबंध क्या है? कुल मिलाकर चिंतन का मूल स्वर अपने परिवेश के स्तर पर आदर्शवादी रहा है, जो जीवन को सुखद एवं संतुलित बनाने का अभिलाषी है। काव्य चिंतकों की जीवन केंद्रित दृष्टि ही काव्य चिंतन में भी व्यक्त होती है।

मानव कल्याण की चिंता प्लेटो के काव्य-चिंतन का बुनियादी स्वर है। इससे चाहे काव्य के काव्यत्व की उपेक्षा भी हुई है, मगर प्लेटो के सामने एक ही आदर्श है - मानव का कल्याण। अरस्तू ने चाहे काव्य के रूप आदि पर विचार किया है, मगर फिर भी काव्य को नैतिक पूर्वाग्रह से पूर्णतः मुक्त नहीं कर पाए हैं। लोंजाइनस ने तो महान काव्य को कवि की आत्मा की गरिमा के साथ ही जोड़कर देखा है।

दूसरी बात यह है कि नाटक ही एक ऐसा काव्यरूप है जो मानव-जीवन से प्रत्यक्ष एवं घनिष्ठ रूप से संबद्ध

है। दृश्यकाव्य होने के नाते संयोजन, विधान और शैली की सरलता आदि गुण उसमें अनिवार्यतः रहते ही हैं।

पाठ्य-काव्य (प्राचीन श्रव्य काव्य) में तो यह सुविधा है कि व्यक्ति अर्थ पर विचार करे, एक-एक अंश को पुनः सुने या पढ़े, अधिक जटिलता होने पर दूसरों की सहायता ले, मगर नाटक में ये सारी सुविधाएँ नहीं है। नाटक तो रंगमंच पर अपनी सहज गति से चलता रहता है और सामाजिक उसे साथ-साथ, बिना किसी की सहायता से समझता जाता है। इसलिए नाटककार के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपनी रचना को प्रेक्षक के स्तर पर ही बनाए रखे। इसी में उसकी सफलता है और इसी रूप में नाटक जीवन को अधिक गंभीरता से प्रभावित करता है।

श्रव्य और दृश्य तत्वों का मिश्रण होने के कारण उसकी सामाजिक उपयोगिता बढ़ जाती है और जीवन केंद्रित चिंतन में वही सब से प्रधान काव्य रूप मान लिया जाता है।

प्लेटो काव्य के रागात्मक प्रभाव को हानिकारक मानते हुए काव्य का विरोध करते हैं, अरस्तू भी विरेचन सिद्धांत के रूप में रागात्मक प्रभाव का विवेचन करते हुए नाटक के महत्व की सिद्धि करते हैं। यूनानी साहित्य की कृतियों में ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर उनकी अपनी काव्य दृष्टि को समझने में सहायता मिलती है। अरिस्टोफेनस की कामदी (comedy) 'फ्राग्स' में एस्काइलस और यूरिपाइडीज इस सवाल पर विचार करते हैं कि कवि के महत्व का आधार क्या है? इसके विचार से वही कवि महान हो सकता है जिसकी कला सच्ची है, जो सत्य का उपदेश देता है और समूचे राष्ट्र के गौरवशाली विकास की प्रेरणा देता है।

आरंभिक यूनानी काव्य चिंतन की एक प्रधान विशेषता यह है कि उसमें काव्य एवं अन्य कलाओं को शेष सृष्टि के संदर्भ में रखकर देखा गया है। प्राचीन चिंतन पद्धति की यह विशेषता रही है कि यदि कोई तथ्य जीवन को अनुकूल या प्रतिकूल रूप से प्रभावित करता है और उसकी व्याख्या यदि बौद्धिक स्तर पर यदि न की जा सके तो उसे किसी दैवी शक्ति के साथ जोड दिया जाता था। भारतीय काव्यशास्त्र में भी वाग्देवी सरस्वती की उद्भावना काव्य और कलाओं की देवी के रूप में की गई है।

उपर्युक्त विवेचन से तीन बातें स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आती हैं। पहली बात यह है कि प्राचीन यूनानी कवियों ने काव्य के विषय के संबंध में तथा काव्यगत विषय एवं सृष्टि के संबंध में कुछ संकेत दिए हैं। दूसरी जिस बात ने कवियों का ध्यान आकर्षित किया, वह काव्य की प्रेरणा से संबद्ध थी और इस संदर्भ में कवियों ने देवी या काव्य की प्रेरणा की बात की।

तीसरी बात है काव्य के प्रभाव की। काव्य का प्रभाव गंभीर एवं अमोघ है मगर काव्य का प्रभाव व्यक्ति और समाज के लिए कल्याणकारी होना चाहिए।

ये सब बातें ही आगे चलकर काव्य की बुनियादी समस्याओं के रूप में उभरकर सामने आती है।

### अरस्तु के काव्य सिद्धांत

अरस्तू ने जब काव्य का विवेचन किया तो उनके सामने प्लेटो का काव्य विवेचन विद्यमान था। परंतु अरस्तू ने अपने विवेचन को प्लेटो के विचारों से निर्धारित होने नहीं दिया। उन्होंने प्लेटो की काव्य-विवेचन की मूल दृष्टि-दर्शनाश्रित दृष्टि का त्याग कर काव्याश्रित दृष्टि का उपयोग किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनका काव्यविवेचन

यथार्थ के स्तर पर अनुगम विधि पर आधारित होने के कारण विशेष रूप से महत्वपूर्ण माना गया।

**अनुकरण सिद्धांत**

अरस्तू ने काव्य, चित्र एवं संगीत कलाओं पर एक साथ विचार करते हुए अनुकरण को उनका महत्वपूर्ण एवं अंतरंग व्यापार माना है। वे यह मानते है कि अनुकरण की वृत्ति मानव में बचपन से ही रहती है। वह अनुकरण के कारण बहुत कुछ सीखता है। इसलिए वे अनुकरण की वृत्ति को पहला और प्रधान कारण मानते हैं। दूसरा कारण है सामंजस्य और लय की वृत्ति, जो आदिम मानव में रही होगी और जो विकास के साथ-साथ कविता में छंद और लय के रूप में व्यक्त हुई। मगर फिर भी प्रधान कारण अनुकरण ही है। अरस्तू ने काव्य विवेचन में अनुकरण को महत्व दिया।

**अनुकरण सिद्धांत**

यह सिद्धांत अरस्तू द्वारा प्रतिपादित किया गया है। अरस्तू ने इस सिद्धांत को केवल काव्य और सृष्टि के संबंध के संदर्भ में ही ग्रहण किया। इसलिए उन्होंने अनुकरण का अर्थ और उसकी ध्वनियों को बदल दिया।

**अनुकरण की व्याख्या**

यह एक महत्वपूर्ण सवाल है कि 'अनुकरण' का अर्थ क्या है? आश्चर्य की बात यह है कि अरस्तू ने स्वयं कही भी 'अनुकरण' की अवधारणा की व्याख्या नहीं की है। ऐतिहासिक स्थिति को देखते हुए, यह देखते हुए कि प्लेटो ने अनुकृति को ही काव्य और कलाओं की हीनता की सिद्धि का आधार बनाया, परंतु अरस्तू द्वारा 'अनुकरण' की स्पष्ट और विस्तृत व्याख्या का अभाव अजीब-सा लगता है। अरस्तू का अनुकरण से क्या तात्पर्य था इसके संबंध में उन्होंने जो कुछ बातें कही हैं उसके आधार पर उनकी अनुकरण संबंधी धारणा पर प्रकाश पड़ता है।

* अनुकरण सामान्यतः एक यांत्रिक और हीन व्यापार माना जाता है।

* अरस्तू अनुकरण को एक यांत्रिक व्यापार नहीं मानते, वे अनुकरण में निर्माण के व्यापार को भी समाविष्ट करने का प्रयास करते हैं, अनुकरण से उद्भुत विविध पक्षों का विवेचन करते है।

* अरस्तू की दृष्टि से अनुकरण का अर्थ जानने के लिए हमें उनके काव्य-विवेचन से सहायता लेनी पडती है। उन्होंने अनुकरण का प्रयोग काव्य के संदर्भ में ही किया है।

* 'अनुकरण' की अवधारणा एक लौकिक अवधारणा है। दार्शनिक अवधारणा नही है।

अरस्तू द्वारा प्रयुक्त अनुकरण की अवधारणा में सर्जनावाला अर्थ भी विद्यमान है। सारांश रूप में इसकी व्याख्या यह होगी कि 'अनुकार्य का काव्यात्मक निर्माण'।

**अनुकरण सिद्धांत का स्वरूप**

अरस्तू के मत से चित्र और काव्य तो स्पष्ट रूप से अनुकरण मूलक कलाएँ हैं। अरस्तू ने अपने विवेचन में त्रासदी को सबसे अधिक महत्व दिया। उनका सारा काव्य विवेचन त्रासदी के संदर्भ में हुआ है। उन्होंने उसे इतना महत्वपूर्ण इसलिए माना है कि त्रासदी में अनुकरण की प्रधानता होती है, क्योंकि वहाँ नट मूल नायकादि

के चरित्र का अनुकरण करते हैं और अरस्तू ने त्रासदी की परिभाषा देते हुए उसे 'कार्य की अनुकृति का नाम' माना है। एक कारण यह भी है कि ग्रीक भाषा में कवि के लिए प्रयुक्त शब्द 'पोएतेस' का व्युत्पत्थर्थ है कर्ता। परंतु कवि उन घटनाओं का कर्ता नहीं हो सकता, हाँ, उसे उन घटनाओं का अनुकर्ता माना जा सकता है।

अरस्तू के मत से इतिहास यांत्रिक अनुकर्ता है। हू-ब-हू घटित घटनाओं को शब्दों में पेश करता है। मगर कवि घटनाओं की सर्जना भी कर सकता है।

इस संबंध में अरस्तू ने तीन काव्य-विषय का विवेचन किया है - प्रतीयमान रूप, संभाव्य रूप, आदर्श रूप। स्पष्टतः प्रतीय मान रूप के बारे में तो अनुकरण की यांत्रिकता का आरोप लगाया जा सकता है, मगर संभाव्य या आदर्श रूप में तो अनुकरण का सर्जनात्मक पक्ष ही सामने आता है। जब तक कवि में सर्जना की शक्ति नहीं होगी यह काव्य में संभाव्य या आदर्श रूप को चित्रित नहीं कर सकता। यहाँ भी अनुकरण की अवधारण में कवि की योग्यता की स्वीकृति विद्‌यमान है। अरस्तू ने अनुकरण के द्‌वारा प्राप्त आनंद की चर्चा भी की है। उनके मत से जैसे अन्य अनुकरणात्मक कलाओं में अनुकार्य वस्तु के एक होने पर अनुकृति भी एक होती है, उसी प्रकार कथानक को, जो कार्य व्यापार की एक अनुकृति होता है, तथा सर्वांगीणपूर्ण कार्य का अनुकरण करना चाहिए। यहाँ वे आंतरिक एकता की अनिवार्यता स्पष्ट करते हैं।

अरस्तू ने 'अनुकरण' का प्रयोग एक ऐसी अवधारणा के लिए किया है जिसका अंतरंग एवं अनिवार्य गुण है निर्माण।

यद्‌यपि अरस्तू ने अनुकरण को काव्य का मूल व्यापार माना है, फिर भी अनुकरण के विषय, माध्यम, विधि के अनुसार काव्य के रूप में विभिन्नता दिखाई देती है। अनुकरण की रीति के अनुसार भी काव्य रूप में अंतर आ जाता है।

**अनुकरण के संदर्भ में प्लेटो और अरस्तू के विचारों का तुलनात्मक परिचय -**

अरस्तू ने जब काव्य-विवेचन किया तब उसके सामने प्लेटो का काव्य-विवेचन विद्‌यमान था। अरस्तू ने अपने विवेचन को प्लेटो के विचारों से निर्धारित होने नहीं दिया। प्लेटो की दृष्टि दर्शनाश्रित थी तो अरस्तू की काव्याश्रित थी। अरस्तू ने लगभग 2000 वर्षों तक पाश्चात्य-काव्य चिंतन पर शासन किया। प्लेटो के मत के अनुसार अनुकृति व्यापार दर्शन से संबंधित होने के कारण एक हीन व्यापार है, अरस्तू ने उसे केवल काव्य और सृष्टि के संदर्भ में ही ग्रहण किया। अरस्तू ने प्लेटो के समान ही चित्र, संगीत और साहित्य पर एक साथ विचार किया है। प्लेटो ने अनुकृति होने के कारण काव्य को हीन सिद्‌ध किया तो अरस्तू ने अनुकरण-सिद्‌धांत के आधार पर ही काव्य के उत्कर्ष का प्रतिपादन किया है।

प्लेटो अनुकरण को एक यांत्रिक और हीन व्यापार मानते हैं, अरस्तू उसे हीन व्यापार नहीं मानते अनुकरण में निर्माण के व्यापार को भी समाविष्ट करना चाहते हैं। प्लेटो ने अनुकरण का प्रयोग मूल सत्य और सृष्टि तथा सृष्टि और काव्य दोनों के संदर्भ में किया था। अरस्तू ने उसका प्रयोग सृष्टि एवं काव्य के संदर्भ में किया है।

**विरेचन सिद्‌धांत -**

करूणा और त्रास  के भाव जीवन में दुःखमय होते हैं, उनसे उद्‌वेग पैदा होता है और व्यक्ति को उनसे

तथा उन्हें उत्पन्न करनेवाली स्थितियों से विरक्ति होता है। परंतु यह भाव जब काव्य में व्यक्त होते हैं तो उनसे विरक्ति नहीं होती वरन् सामाजिक को ऐसी रचनाओं से एक विशेष प्रकार के आनंद या परितोष की अनुभूति होती है। स्पष्ट है कि यह समस्या जीवन के दुःखद भाव काव्य में व्यक्त होकर कैसे सुखद हो जाते हैं - इसी समस्या के समाधान के लिए उन्होंने विरेचन सिद्धांत की प्रतिष्ठा की। जिसमें करूणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है - अरस्तू की दृष्टि से विरेचन का अर्थ शुद्धि है। (विरेचन (कथार्सिस) की परिभाषाओं के लिए पिछे दिए गए संदर्भ -ग्रंथों को देखें।)

विरेचन त्रासदी के किसी अंश या किसी एक दृश्य में नहीं होता। ऐसी नहीं है कि त्रासदी में कहीं कोई ऐसी घटना होती है जिसके प्रभाव स्वरूप त्रास एवं करूणा के भावों का उद्रेक भी हो जाता है, उनका उचित विरेचन भी हो जाता है और इसके परिणामस्वरूप सुख की प्राप्ति भी हो जाती है। विरेचन का यह व्यापार सारी रचना में व्याप्त हैं या यो कहे कि जैसे जैसे त्रासदी का प्रदर्शन होता है, वैसे-वैसे यह व्यापार दर्शक की चेतना में चलता रहता है और चरम सीमा पर आकर ही उचित विरेचन होता है।

इसी प्रकार यह भी मत व्यक्त किया गया है कि - विरेचन एक कलागत व्यापार है और उससे प्राप्त होने वाला सुख विरेचन व्यापार की कलात्मकता का परिणाम है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर विरेचन व्यापार के बारे में ये निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं -

1. विरेचन व्यापार की परिभाषा देते हुए अरस्तू प्रेक्षक की संवेगात्मक प्रतिक्रिया की गतिशीलता का वर्णन करते हैं प्रमाण है प्रेक्षक का अनुभव।
2. विरेचन की परिणति जिस अनुभव में होती है, वह सुखात्मक है।
3. विरेचन के फलस्वरूप जो अनुभव होता है वह नैतिकता से संपृक्त होता है। यह मान्यता त्रासद स्थितियों के विवेचन से संबद्ध है।

**लोंजाइनस**

पाश्चात्य काव्य शास्त्र में प्लेटो और अरस्तू के बाद तीसरा महत्वपूर्ण नाम लोंजाइनस का आता है। लोंजाइनस के सुप्रसिद्ध ग्रंथ का नाम 'पेरिइप्सुस' है जिसका अर्थ है - काव्य में उदात्त तत्व। इसी का अर्थ है औदात्य, ऊँचाई। इस निबंध का अंग्रेजी में on the sublime नाम से अनुवाद हुआ है। आरंभ में यह ग्रंथ उपेक्षित रहा। 19वीं शताब्दी में पेरिइप्सुस' और उसके लेखक के संबंध में गंभीर गवेषणात्मक दृष्टि अपनाई गई।

**लोंजाइनस द्वारा उदात्त की व्याख्या -** लोंजाइनस ने उदात्त की परिभाषा नहीं दी है। उसे एक स्वतः तथ्य मानकर छोड़ दिया है। उसका मत है कि उदात्तता साहित्य के सब गुणों में महान है, यह वह गुण है जो अन्य क्षुद्र त्रुटियों के बावजूद साहित्य को सच्चे अर्थों में प्रभावपूर्ण बना देता है। उसने एक ओर उदात्त के अंतरंग तत्वों की चर्चा की वहाँ बहिरंग तत्वों की भी चर्चा की। उसकी दृष्टि व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार की थी, अतः उसने जहाँ एक ओर उदात्त के बहिरंग तत्वों की चर्चा की वहाँ अंतरंग तत्वों की ओर भी संकेत किया।

उदात्त के विवेचन में उन्होंने पाँच तत्वों को आवश्यक माना - 1. महान धारणाओं की क्षमता या विषय

की गरिमा. 2. भाववेश की तीव्रता 3. समुचित अलंकार योजना. 4. उत्कृष्ट तथा गरिमामय रचना विधान, इनमें से प्रथम दो जन्मजात हैं, अतः उसके अंतरंग पक्ष के अंतर्गत आते हैं, शेष तीन कलागत हैं और बहिरंग के अंतर्गत आते हैं।

उन्होंने अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए उन तत्वों का भी उल्लेख किया है जो औदात्य के विरोधी हैं। इस प्रकार उनके उदात्त के स्वरूप विवेचन के तीन पक्ष हो जाते हैं - 1. अंतरंग तत्व 2. बहिरंग तत्व 3. विरोधी तत्व

**1. उदात्त के अंतरंग तत्व -** महान विचारों की उद्भावना उनके अनुसार महत्वपूर्ण है। उस कवि की कृति महान नहीं हो सकती जिसमें महान धारणाओं की क्षमता नहीं है। कवि को महान बनने के लिए अपनी आत्मा में उदात्त विचारों का पोषण करना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "यह संभव नहीं है कि जीवन भर क्षुद्र उद्देश्यों और विचारों में ग्रस्त व्यक्ति कोई स्तुत्य एवं अमर रचना कर सके। महान शब्द उन्हीं के मुख से निःसृत होते हैं जिनके विचार गंभीर और महान हो।" उनका विचार है कि उदात्त उक्ति महान आत्माओं द्वारा ही संभव है।" Great Utterance is the greatness of soul"

अरस्तू ने  विषय को साध्य माना था, लोंजाइनस उसे साधन मानते हैं। उनका मत है कि विषय के महत्व तथा अनुक्रम की श्रेष्ठता से काव्य में आनंदातिरेक का तत्व आता है जिसका तत्काल ही स्थायी प्रभाव पड़ता है। उनके मतानुसार यद्यपि यह कार्य प्रतिभा द्वारा ही सिद्ध होता है, तथापि महान् कवियों की कृतियों का अनुशीलन भी सहायक हो सकता है। लोंजाइनस प्राचीन कवियों का अंधानुकरण नहीं चाहते, वह चाहते हैं कि नए कवि उनसे संस्कार ग्रहण करें। उनकी शक्ति प्राप्त करें। प्राचीन कृतियों की आत्मा को ग्रहण करें।

इस प्रकार वह उदात्त विचारों के लिए, कल्पना को, जो कारयित्री प्रतिभा की देन है और प्राचीन काव्यानुशीलन को आवश्यक मानते थे। वह श्रेष्ठ रचना के लिए उसके विषय का विस्तारपूर्ण होना आवश्यक समझते हैं। उनका मत है कि विषय में ज्वालामुखी के समान असाधारण शक्ति और वेग होना चाहिए तथा ईश्वर का सा ऐश्वर्य और वैभव भी।

**भावों की उत्कटता -** लोंजाइनस उदात्त और प्रेरणा प्रसूत भव्य आवेग को उदात्त का दूसरा तत्व मानते हैं। भव्य आवेग से उनका अभिप्राय ऐसे आवेग से है, जिसके परिणाम स्वरूप हमारी आत्मा अपने आप ऊपर उठकर मानो गर्व से उच्चकाश में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से भर जाती है। उन्होंने आवेग के दो भेद किए हैं - भव्य और निम्न। निम्न आवेग के अंतर्गत वे उन आवेगों को लेते हैं, जिनका संबंध दया, शोक, भय आदि से है।

भव्य आवेग से आत्मा का उत्कर्ष होता है तो निम्न से अपकर्ष। उदात्त के लिए भव्य आवेग को आवश्यक माना गया है। वह उसी को उदात्त कहते हैं जो अपनी ऊर्जा, उल्लास और संभ्रम आदि के सम्मिलित प्रभाव रूप ऐसी अनुभूति को जन्म दे जो अंततः पाठक की संपूर्ण चेतना को अभिभूत कर सके।

**2. उदात्त के बहिरंग तत्व**

लोंजाइनस नियमों का महत्व स्वीकार करते हैं। उन्होंने कलागत उदात्त के तीन तत्व माने हैं -

1. समुचित अलंकार - योजना  2. उत्कृष्ट भाषा  3. गरिमामय रचना - विधान

**1. समुचित अलंकार योजना**

अलंकारों का प्रयोग तो लोंजाइनस के युग में निर्बाध होता था, पर उसका मनोवैज्ञानिक आधार न था। लोजाइनस ने उनका संबंध मनोविज्ञान से जोडा और मनोवैज्ञानिक प्रभावों को व्यक्त करने के निमित्त ही अलंकारों को उपयुक्त ठहराया। केवल चमत्कार प्रदर्शन के लिए अलंकारों का प्रयोग उन्हें मान्य न था। वह अलंकारों को तभी उपयोगी मानते थे जब वह जहाँ प्रयुक्त हुआ वहाँ अर्थ को उत्कर्ष प्रदान करे। लेखक के भावावेग से उत्पन्न हुआ हो, पाठक को आनंद प्रदान करे, उसे केवल चमत्कृत न करे। अतः उनका अलंकार संबंधी विवेचन अत्यंत मार्मिक है। भव्य से भव्य अलंकार भी यदि स्थान, परिस्थिति आदि के अनुरूप नहीं है, तो कविता कामिनी का शृंगार न कर उसका बोझ बन जाएगा। वह साधन मात्र है, अतः उसे प्रसंग का सहज अंग बनकर आना चाहिए। इस बात पर किसी का ध्यान न जाए कि वह अलंकार है।

**2. उत्कृष्ट भाषा -**

उत्कृष्ट भाषा के अंतर्गत लोंजाइन ने शब्द चयन और भाषा की सज्जा को लिया है। उन्होंने विचार और पदविन्यास को एक दूसरे के आश्रित माना है। अतः सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उदात्त विचार क्षुद्र या साधारण शब्दावली द्वारा अभिव्यक्त न होकर गरिमामयी भाषा में ही अभिव्यक्त हो सकते हैं। भा षा की गरिमा का मूल आधार है शब्द सौंदर्य अर्थात् उपयुक्त और प्रभावशाली शब्दों का प्रयोग। सुंदर शब्द ही वास्तव में विचार को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते हैं। शब्द विन्यास के दो पक्ष होते हैं, ध्वनि पक्ष और अर्थ पक्ष। लोंजाइनस ने दोनों पक्षों पर ध्यान दिया है।

उनका विचार है कि अनुकूल ध्वनि के शब्दों का चयन काव्य में मोहकता की सृष्टि करता है। उनके इस विचार में हम भाषा संबंधी आधुनिक विचारों की स्पष्ट झलक पाते हैं। जिस प्रकार भारतीय रीति संप्रदाय भाषा में ओज, माधुर्य प्रसाद आदि गुण मानता है, उसी प्रकार लोंजाइनस भी मानता है। उसने कहा कि अनुभूति की तीव्रता को व्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग किया जाए, यही एकमात्र नियम है; अन्य सभी नियम अधूरे तथा अपूर्ण हैं। यहाँ उसने एक चेतावनी भी दी है कि हर जगह गरिमामयी - भाषा का प्रयोग उचित नहीं है। उसका प्रयोग प्रसंग के अनुरूप ही होना चाहिए, छोटी-मोटी बातों को बड़ी-बड़ी और भारी भरकम संज्ञा देना किसी एक छोटे से बालक के मुँह पर पुरे आकारवाला त्रासद अभिनय का मुखौटा लगा देने के समान है।

उनका कथन है कि शब्द योजना, संगीतात्मक प्रभाव के अनुकूल होनी चाहिए। उनका यह सिद्धांत भारतीय शब्दालंकारों के समक्ष होते हुए भी इसलिए भिन्न है कि उन्होंने शब्द का संबंध भाव से भी जोड़ा है। इस तरह लोंजाइनस अपने सिद्धांत के प्रतिपादन में यद्यपि भारतीय रीति सिद्धांत के समीप लगते हैं, परंतु उसका मनोवैज्ञानिक रूप मानने के कारण वह उससे भिन्न हैं।

**3. गरिमामय रचना विधान -**

उनके अनुसार रचना-विधान गरिमामय होना चाहिए। रचना विधान के अंतर्गत शब्दों, विचारों, कार्यों तथा राग के अनेक रूपों का सुगुंफन होता है। उनकी दृष्टि में रचना का प्राणतत्व है सामंजस्य जो उदात्त शैली के लिए अनिवार्य है। उन्होंने शैलीगत रचना विधान की तुलना शरीर-रचना से करते हुए घटक तत्वों के समुचित

संयोजन पर बल दिया है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अवयवों का अलग-अलग रहने पर कोई महत्व नहीं, सब मिलकर ही वे एक समग्र और संपूर्ण शरीर की रचना करते हैं, इसी प्रकार उदात्त शैली के सभी तत्व जब एकान्वित कर दिए जाते हैं तभी उनके कारण कृति गरिमामय बन पाती है। इस प्रकार लोंजाइनस का कथन है वही काव्य सृष्टि उत्कृष्ट है, जो पाठकों को एक बार नहीं, वरन् बार-बार उत्तेजित और उद्वेलित कर सके, जो विभिन्न पेशों, आकांक्षाओं, युगों और भाषाओं के मनुष्यों के सम्मुख बार-बार पढ़ी जाने पर उन्हें प्रभावित कर सके।"

**कल्पना - तत्व**

लोंजाइनस ने प्रत्यक्ष रूप से तो कल्पना-तत्व की चर्चा नहीं की है, केवल जहाँ बिंबों का वर्णन किया है, वहाँ उनकी निर्मात्री शक्ति के रूप में उसकी चर्चा की है। उनका बिंब से अभिप्राय कल्पना चित्र से ही है और उसकी प्रेरणा शक्ति वे कल्पना को मानते हैं। उनके अनुसार कल्पना वह शक्ति है जो पहले कवि को मानसिक रूप में वर्ण्य-विषय का साक्षात्कार करा देती है और फिर जिसकी सहायता से कवि भाषा में चित्रात्मकता के द्वारा वर्ण्य को ऐसे प्रस्तुत करता है कि वह श्रोता-पाठक के सम्मुख जीवंत और प्रत्यक्ष हो उठता है। लोंजाइनस की कल्पना संबंधी यह धारणा आज की कल्पनाविषयक धारणा से भिन्न नहीं है।

**3. उदात्त के विरोधी तत्व -**

विषय को निर्भ्रांत बनाने के लिए लोंजाइनस ने उन तत्वों को भी स्पष्ट किया है, जो उदात्त के विरोधी हैं। उन्होंने बालेयता (हल्कापन, बचकाना पन) को औदात्य का विरोधी माना है। चंचल पद-गुंफन, असंयत वाग्विस्तार, हीन और क्षुद्र अर्थोंवाले शब्दों का प्रयोग - ये सब उदात्त शैली के अपकारक हैं। अतः त्याज्य हैं। भावाडंबर और शब्दाडंबर को भी वह विरोधी तत्व मानते हैं। गृद्ध को 'जीवित समाधि' कहना उनकी दृष्टि में वाक् स्फिति मात्र है। वे उन चमत्कार प्रयोगों को भी उदात्त का विरोध समझते हैं। जो साध्य हैं, साधन नहीं, तथा जो विवेक पूर्वक प्रयुक्त नहीं किए गए हैं, जिनसे भावाभिव्यंजना में कोई गरिमा नहीं आती। अभिव्यक्ति की क्षुद्रता अत्यंत संक्षिप्तता, अनावश्यक साज-सज्जा, संगीत और लय के आधिक्य को भी वह विरोध तत्व मानते हैं, क्योंकि उससे शैली उदात्त होने की बजाय निकृष्ट बन जाती है। कुत्सित क्षुद्र अर्थवाले शब्द यदि भाषा के कलंक हैं, तो विचारों को ठूँसने से संक्षिप्तता तो आ जाती है पर विषय की गरिमा नष्ट हो जाती है।

उनका मत है कि लय और संगीत का आधिक्य भी उक्ति को आवश्यकता से अधिक सुकुमार, कृत्रिम और एकरस बनाकर श्रोता का ध्यान विषय से हटा देता है।

**काव्य में उदात्त का महत्त्व**

लोंजाइनस ने प्लेटो के प्रभाव के कारण यदि कवि में उत्कृष्ट व्यक्तित्व का होना आवश्यक माना और अरस्तू से प्रभावित होकर काव्य शरीर का गठन किया, समर्थन किया, तो काव्य में भावात्मक उत्तेजना प्रदान करने की क्षमता की बात उसके मौलिक चिंतन का फल है। लोंजाइनस ने काव्य को शुद्ध सौंदर्य शास्त्र के निकष पर कसा है। रचनाकार में विचार और भाव की, कृति में उदात्त की और भावक में आह्लाद की स्थिति को दिखाकर उन्होंने काव्य को व्यापक आयाम प्रदान किया। उसका महान धारणा का सिद्धांत भी उसकी मौलिक देन है। लोंजाइनस के उदात्त तत्व की व्याख्या का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है, जब हम आधुनिक

आलोचकों ब्रैडले, कान्ट आदि की विचार धारा तथा लोंजाइनस की धारणाओं की तुलना करते हैं। भावोत्कटता, अलौकिक कल्पना, ऐश्वर्य और उत्कट प्रभाव क्षमता आदि जिन गुणों का उल्लेख लोंजाइनस ने किया है, ब्रैडले ने भी असीम शक्ति के अंतर्गत उन्हें स्वीकार किया है। पश्चिम के रीतिकारों ने काव्यगत भाव के जिन चार भेदों - **उदात्त, सुंदर, करूण** और **हास्य** का उल्लेख किया है, उनका लोंजाइनस ने पृथक-पृथक रूप में कथन तो नहीं किया है, पर उनका संकेत अवश्य मिलता है। उदात्त भावना और उदात्त विषय के लिए उदात्त शैली की परिकल्पना और विवेचन भी आजकल के आलोचकों ने लोंजाइनस की तरह किया है। लोंजाइनस द्वारा प्रतिपादित कृतिकार में सर्जनात्मक प्रणोदन और अभिव्यंजनात्मक प्रणोदन की बात भी नई है।

इधर भारतीय काव्यशास्त्र में उदात्त की परिकल्पना का अभाव तो नहीं है, पर उसका विवेचन समग्र रूप में एक स्थान पर नहीं किया गया है। उदात्त के लक्षण खंडशः ही उपलब्ध होते हैं, जैसे धीरोदात्त नायक, वीर रस, उद्भुत रस, ओज गुण, गौड़ीरीति आदि के प्रसंगों में। अतः यह मानना पडेगा कि उदात्त का विश्लेषण और समग्र विवेचन भारतीय काव्य शास्त्र में उतना नहीं जितना लोंजाइनस के 'पेरिइप्सुस' में है।

उनकी सबसे बड़ी देन यह है कि उसने दोष पूर्ण महान कृति को निर्दोष और साधारण कृति से ऊँचा माना है, क्योंकि महान कृति में ही दोषों की संभावना हो सकती है। (Great flights - of necessity involve great risks from which pedestrian natures are free) नितांत निर्दोष कृति में क्षुद्रता की संभावना अधिक होती है - (unfailing accuracy savours some what of pettiness) इस प्रकार लोंजाइनस के विचार अत्यंत मौलिक, सार्वभौम एवं चिरंतन हैं।

**यथार्थवाद**

आंदोलन के रूप में प्रकृतवाद का उदय मुख्यतः उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। साहित्यिक वाद के रूप में प्रकृतवाद का अर्थ हुआ मानव के आचरण और चरित्र को निकट से देखना और उसको ज्यों का त्यों चित्रित करना। अतः प्रकृतवादी कलाकार यथार्थ चित्र अंकित करने लगे। अपने चारों ओर जो कुछ देखते हैं, उसका ज्यों का त्यों चित्रण करने लगे।

प्रकृतवाद यथार्थ का ही एक अभिनव प्ररोह माना जाता है। वस्तुतः साहित्य के नव्य यथार्थ वाद (Neo-realism) को ही प्रकृतवाद कहा जाता है। मार्टिन टर्नेल ने प्रकृतिवाद को मोटे तौर पर यथार्थवाद का विधिवत् विस्तार और विकास कहा है। सेंटसबरी के अनुसार, "प्रकृतवाद यथार्थ में स्वच्छंदतावाद का विकृत रूप था, यह विकृति अतिरंजना से उत्पन्न हुई थी। यथार्थवाद और प्रकृतवाद में प्रमुख और तात्विक भेद यह है कि साहित्य में जहाँ यथार्थवाद भावुकता, रोमान्स, कल्पना तथा आदर्श का तिरस्कार करता है, वहाँ प्रकृतिवाद न केवल इनका विरोध ही करता है, अपितु और आगे बढ़कर एक ऐसा जीवन दर्शन प्रस्तुत करता है जो विशुद्ध भौतिक एवं यांत्रिक-धारणा पर आधारित है।

यथार्थवाद और प्रकृतवाद बाह्यतः एक से दिखते हुए भी तात्विक दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं। यथार्थवादी साहित्यकार जीवन को ज्यों-का-त्यों चित्रित करता है। उसका एक मात्र लक्ष्य यही होता है कि जो कुछ उसने देखा है उसी को वह पूरी ईमानदारी के साथ अपनी कृतियों में उतार दे। उसके समक्ष अपनी भावनाओं की कल्पनापूर्ण

अथवा कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रश्न भी नहीं होता। यही कारण है कि यथार्थवादी कृतियों में 'सत्य' के ही दर्शन होते हैं। यहाँ तक कि साहित्यकार का व्यक्तित्व भी उभर नहीं पाता। उसका काम तो जीवन के तथ्यात्मक विवरणों की एक रिपोर्ट प्रस्तुत करना है। भलेही उस रिपोर्ट से पाठक का मनोरंजन हो अथवा न हो। यथार्थवादी साहित्यकार का वर्णन करते हुए एक आलोचक ने कहा है - "यथार्थवादी कल्पना की दुनिया में नहीं भटकता बल्कि अपनी अनुभूतियों की वास्तविकता को लेकर ही उसका कारोबार है। वह इन्हीं भावों एवं वस्तुओं का चित्रण करता है जो उसके लिए सुपरिचित और सुस्पष्ट होते हैं। उनपर कल्पना की रंगीनियाँ चढ़ाकर देखना उसे पसंद नहीं। वह वास्तव जगत् की वस्तुओं को चित्रित करता है और उन्हें वास्तव ही बनाए रखना चाहता है। उन्हें वह आदर्श का चोगा पहनाना नहीं चाहता। इस प्रकार यथार्थवादी साहित्यकार जीवन की रिपोर्ट प्रस्तुत करता है। निस्संदेह मूलतः एक कलाकार होने के नाते उसकी यह रिपोर्ट भी कलात्मकता का स्पर्श लिए होती है।

एक सिद्धांत के रूप में यथार्थवाद का जन्म सन् 1830 की फ्रांसीसी क्रांति के बाद हुआ था। यह एक अकाट्य सत्य है कि इस ऐतिहासिक क्रांति ने समूचे युरोप के सोचने, समझने और यहाँ तक कि जीने का ढंग बदल दिया। साहित्य भी इस क्रांति से अछूता नहीं रह सका और कला के प्रत्येक क्षेत्र में तथ्यात्मकता का आग्रह बढ़ता गया। काव्य और कला का एकमात्र उद्देश्य जीवन की यथातथ्य व्याख्या करना रह गया। नैतिक और सामाजिक मूल्यों के लिए भी यथार्थवादी साहित्य में कोई स्थान नहीं रह गया। धीरे-धीरे यह यथार्थवाद जीवन के कुत्सित, बीभत्स और कुरूचिपूर्ण अंश के चित्रण में प्रवृत्त हो गया। जो यथार्थवाद आरंभ में जीवन की समग्रता को लेकर चला था, अपने अंतिम दौर में वह जीवन के अच्छे और कुरूप सत्य का अधिवक्ता बन गया। ऐसी स्थिति में मनुष्य को यह समझने में समय नहीं लगा कि जीवन केवल वही नहीं है जो बाहर से दिखता है। जिसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ ऐसा है जो मनुष्य के भीतर छिपा रहता है और जो यथार्थवाद की सतही दृष्टि की पकड़ में नहीं आ सकता।

यथार्थ और यथार्थवाद एक होते हुए भी स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। यथार्थ आधारभूमि है जिसपर जीवन का जो चित्र उभरता है वह यथार्थवादी कहलाता है।

यथार्थ वाद एक प्रवृत्ति है, पद्धति है जिसका उद्देश्य है जीवन में सभी वस्तुओं का पूर्ण निष्ठामय चित्रण एवं प्रकृति का पुनः प्रस्तुतिकरण।

वैसे पाश्चात्य काव्य शास्त्र का इतिहास इस बात का साक्षी है कि यूनान में ईसा पूर्व 5वीं शताब्दी से ही यथार्थवाद किसी रूप में साहित्य में अपनी स्थिति बनाए रहा है। यथार्थ एक ऐसी सचाई कि जिसे किसी भी युग का साहित्यकार चाहते हुए भी अनदेखा नहीं कर सका है और कदाचित यही कारण है कि पूर्व में भी यथार्थ का स्वर कभी स्पष्टतः तो कभी दबे-दबे रूप में आवश्य दिखाई देता है।

**आदर्शवाद -** आदर्शवाद एक जीवनमूल्य भी है और दर्शन के इतिहास में सर्वत्र व्याप्त एक विचार दर्शन भी, संभवतः यही कारण है कि - हॉकिंग ने आदर्शवाद को 'दर्शन का प्रबंध' ही कहा है।

यथार्थवाद मनुष्य जीवन के यथार्थपर ध्यान देता है वैसे ही आदर्शवादी विचार धारा मनुष्य की गरिमा तथा उसकी प्रकृति के वैशिष्ट्य पर बल देती है और मानव को ही अपने अध्ययन का विषय बनाती है। पाश्चात्यदर्शन साहित्य में आदर्शवाद का संबंध बौद्धिक सत्य से है। अंग्रेजी शब्द 'आयडिया' से व्युत्पन्न 'आयडियालिज्म'

आदर्शवाद का उचित अर्थ प्रकट करता है। इसी अर्थ में इसे विचारवाद भी कहा जाता है। वस्तुतः आदर्शवादी विचारों का स्रोत मानव की अंतःप्रज्ञा ही है। जो धर्म का उद्गम भी है। कह सकते हैं कि धर्म और आदर्श में अन्योन्याश्रित संबंध है। मानव की अंतः प्रेरणाने अनेक विचारों को जन्म दिया और इन्हीं विचार तंतुओं ने आदर्शवाद का भव्य महल खडा किया।

सत्य का जो रूप हमारी बुद्धि द्वारा ग्राह्य होता है, वही आदर्श बनता है और तद्नुरूप हम वस्तु या पदार्थ का रूप व्याख्यायित करते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से आदर्शवाद का प्रादुर्भाव सुकरात और प्लेटो की रचनाओं में मिलता है।

सुकरात के चिंतन का विषय मनुष्य है। जैसे कि उनकी मान्यता है कि "भौतिक चिंतन से हमारा कोई संबंध नहीं है, मनुष्य ही मनुष्य के चिंतन का उपयुक्त विषय है।"

प्लेटो ने भी बुद्धिगत सत्य को महत्व दिया है क्योंकि उनके विचार में वस्तुगत या इंद्रिय गोचर पदार्थ बुद्धिगत सत्य का परिणाम है।

मध्य युग में धार्मिक आदर्शवाद प्रधान हो गया था और जीवन तथा साहित्य दोनों ही नैतिक और धार्मिक आदर्शों में बंध गए। स्वच्छंदतावाद जो नैतिक प्रतिबंधों के विद्रोह स्वरूप अस्तित्व में आया, वस्तुतः वह भी आदर्श वाद का ही रूप था।

प्रकृति तथा मानव सौंदर्य को कल्पना की आँखों से देखनेवाले ये कवि अंतःकरण में पूर्ण सौंदर्य को संजोते गए। इसे हम सौंदर्यात्मक आदर्शवाद कह सकते हैं, क्योंकि भावना और विचार में आया हुआ गुण सौंदर्यमय रूप में महत्वपूर्ण होता है। आदर्शवाद सदैव मूल्यपरक होता है।

आदर्शवाद मानव तक सीमित है क्योंकि मन, मस्तिष्क, तर्क, बुद्धि, नैतिकता, आत्मा, धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्य मानव में ही निहित हैं जो इस आदर्शवादी दर्शन के मूल स्तंभ हैं। 'सत्यं-शिवं-सुंदरम्' आदर्श वादियों का मूल मंत्र है। मानव जीवन का लक्ष्य इन्हीं मूल्यों को प्राप्त करता है। ये तीनों ही अन्योन्याश्रित है। इसलिए आदर्शवादियों की दृष्टि में आत्मानुभूति ही जीवन का लक्ष्य है जो मूल्यों, विचारों, सद्गुणों एवं आदर्शों में विश्वास रखते हुए उचित अनुचित की व्याख्या करता है।

वैयक्तिक आदर्शवाद, निर्वैयक्तिक आदर्शवाद, भौतिक आदर्शवाद, साहित्यिक आदर्शवाद ऐसे आदर्शवाद के कुछ रूप विद्वानों ने निर्देशित किए हैं।

यथार्थवाद और आदर्शवाद में यह भेद हैं। यथार्थवाद से अतियथार्थवाद निकला।

अतियथार्थवाद की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में की गई है - एक विशुद्ध आत्मिक स्वतःक्रिया जिसके द्वारा विचारों के वास्तविक क्रम को मौखिक, लिखित या अन्य किसी रूप में प्रकट किया जाता है। विचारों का श्रुतलेखन जो बुद्धि के नियंत्रण से मुक्त हो तथा अन्य सौंदर्यात्मक आथवा नीति परक पूर्वाग्रह से अलग हो। साहित्य में प्रकृतवाद की चरम अभिव्यक्ति ही अतियथार्थवाद है।

**मनोविश्लेषण वादी यथार्थवाद -** यथार्थवाद कलात्मक अभिव्यक्ति की सभी मान्य परंपराओं को

अस्वीकार करता है। उसका लक्ष्य है मानसिक जीवन का उद्घाटन करना जो चेतन के धूमिल गह्वर में डूबा पडा है। उसकी मान्यता है कि मनुष्य हिमशैल के समान है। जिस प्रकार हिमशैल का केवल 1/4 भाग जलप्रवाह से ऊपर दिखाई पड़ता है, 3/4 अंश जल में डूबा रहता है, उसी प्रकार मनुष्य का थोडा-सा अंश ही जल में चेतन के स्तर के ऊपर है, अधिकांश तो अचेतन के स्तर पर रहता है। यथार्थवादी कलाकार अचेतन के जगत् को चेतन से अधिक यथार्थ और महत्वपूर्ण मानता है। अतः वह अचेतन में डूबे अंश का ही उद्घाटन करना अपना लक्ष्य मानता है। इसके लिए वह स्वप्न और स्वप्न सदृश मानसिक अवस्थाओं के विशिष्ट बिंब विधान का प्रयोग करता है और इसमें उसे फ्रायड के स्वप्न सिद्धांतों (Dream mechanism) में पर्याप्त सहायता मिली है।

**समाजवादी यथार्थवाद -** यथार्थवाद किसी बहिर्गत प्रतिबंध का स्वीकार नहीं करता, वह संपूर्ण स्वतंत्रता का हामी है। वह प्रचलित नैतिक मान्यताओं का विरोध करता है क्योंकि वह उन मान्यताओं को सड़ी-गली मानता है।

हर्बर्ट रीड कहता है, "यथार्थवादी के लिए उस नैतिकता के लिए कोई सम्मान का भाव नहीं हो सकता जो एक ओर घोर गरीबी और दूसरी ओर बेहद अमीरी को पोषण दे, जो भूखे अथवा अधभूखे इन्सानों के होते हुए भी धरती की उपज को उजाड़ दे, जो एक ओर सार्वभौम शांति का संदेश प्रचारित करे और दूसरी ओर आक्रामक युद्ध की विभीषिका उपस्थित करे।"

यथार्थवादी की धारणा है कि मनुष्य जन्मतः अपूर्ण है, उसकी चतुर्दिक परिस्थितियाँ और परिवेश उसे और भी अधिक अपूर्ण बना देते हैं। आज के युग में विज्ञान की सहायता से भौतिक विकास तो अभूतपूर्व हुआ है, पर मानव की माँगे भी उसी अनुपात में बढ़ी हैं। और उनके पूरे न होने के फलस्वरूप मनुष्य आज इतना दुःखी है जितना कदाचित कभी नहीं हुआ था। यथार्थवादी रचनाकार मानव की इस वेदना और उसकी कष्टपूर्ण जिज्ञासाओं का मूल कारण तथा समाधान अपने ढंग से प्रस्तुत करता है।

## 5. अभिव्यंजनावाद

### क्रोचे की कला विषयक धारणा

क्रोचे दार्शनिक थे, सौंदर्य शास्त्री थे, उनका अभिव्यंजनावाद काव्य पर ही लागू नहीं होता, सभी ललित कलाओं के लिए समान रूप से महत्व रखता है। उनकी पुस्तक 'एस्थेटिक' (1902) सौंदर्यशास्त्र की पुस्तक है, जो कला के एक विशिष्ट सिद्धांत को निरूपित करती है।

क्रोचे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक थे। आदर्शवादी सौंदर्य दर्शन की चरम परिणति उनके विचारों में प्राप्त होती है। उन्होंने मानसिक क्रियाओं को ही एकमात्र मान्यता प्रदान की और बाह्य उपकरणों को केवल गौण साधन माना।

क्रोचे आत्मा की मूलतः दो क्रियाएँ मानते हैं -

1. सैद्धांतिक या विचारात्मक

2. व्यावहारिक

व्यावहारिक क्रिया के दो रूप होते हैं - उपयोगी या आर्थिक, और नैतिक, यह व्यावहारिक क्रिया मनुष्य की इच्छा शक्ति पर निर्भर होती है। सैद्धांतिक क्रिया के भी दो प्रकार हैं - स्वयं प्रकाश ज्ञान तथा तर्क ज्ञान। तर्क से प्राप्त ज्ञान का संबंध निश्चयात्मक बुद्धि तथा पदार्थ-बोध से होता है। यह सामान्य का ज्ञान है और उससे दर्शन तथा विज्ञान का जन्म होता है। इसके विपरित स्वयं प्रकाशज्ञान का संबंध व्यष्टि या विशेष पदार्थ से होता है और वह कल्पना द्वारा कला का उत्पादक होता है। स्वयंप्रकाश ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से स्वतंत्र और स्वायत्त होता है, उसे किसी मार्गदर्शन की आवश्यकता नहीं, वह एक प्रकार की अलौकिक शक्ति है जो क्षणभर में किसी भावना को अपनाकर उसे आकार, मूर्त और सुंदर रूप दे जाती है। यदि तर्क तक पहुँचने के लिए बुद्धि का सहारा लिया जाता है, तो सहज ज्ञान कल्पना द्वारा प्राप्त होता है। सहज ज्ञान बिंबों की रचना करता है, तो तर्क ज्ञान पदार्थ-बोध की, बुद्धि की सहायता से हम निर्णय करते हैं कि मनुष्य विचारशील प्राणी है, कल्पना हमारे मानस में ऐसे प्राणी का बिंब अंकित कर देती है। प्रतिभा ज्ञान के समय तर्क ज्ञान की उपस्थिति आवश्यक नहीं। बौद्धिक तत्व भी स्वयं-प्रकाश ज्ञान में घुलमिलकर उसी का रूप ग्रहण कर लेते हैं, विचार अनुभूति का विषय बन ज ाते हैं।

क्रोचे सहज ज्ञान को संवेदनों से भी भिन्न मानता है। संवेदन अस्थिर एवं अरूप होते हैं, उन्हें स्वयं प्रकाश्य ज्ञान की सामग्री कह सकते हैं। संवेदनों के अधिक जटिल एवं संयुक्त रूप को भी स्वयं प्रकाश्य ज्ञान नहीं कह सकते। संवेदनों के निरूपण को हम स्वयं प्रकाश्य तभी मानेंगे जब उनसे समुचित बिंब की सृष्टि होती है। सहज ज्ञान यांत्रिक और निक्रिय नहीं होता। वह ऐसा ज्ञान है जो सहज ही घट में उतर जाता है। वह प्रभावों (impressions) की सक्रिय अभिव्यंजना है।

"Every true intution or representation is also expression. That which does not objectify itself in expression is not intution or representation, but sensation and mere natural fact. The spirit does not obtain intutions otherwise than by making, forming, expressing."

वस्तुओं के इंद्रिय संपर्क के अवसर पर हममें जो संवेदन उत्पन्न होता है, वह अरूप (formless) होता है। अंतर्मन में उसकी कोई स्पष्ट भावना नहीं होती, उसके रूप का स्पष्ट बोध नहीं होता है। मन में उसका रूप निर्मित ही नहीं होता, प्रतीति मात्र होती है। संवेदना में यांत्रिकता, निष्क्रियता लक्षित होती है। इसके विपरित सहजानुभूति में एक प्राणशक्ति, क्रियात्मकता होती है। सहजानुभूति एक प्रकार की आत्मिक अनुभूति (spiritual experience) है जिसके आलोक में अदृश्य दश्य, अव्यक्त व्यक्त और अरूप रूपवान बन जाता है।

जब चित्रकार किसी वस्तु की झलक मात्र देखता है, तो हम यह नहीं कह सकते कि उसे सहज ज्ञान हुआ है, हम सहज ज्ञान की उपलब्धि तब मानेंगे जब वह उसका पूर्ण प्रत्यक्षीकरण कर लेगा, अर्थात् जब वह अपने अंतर्मन में उसे पूरी तरह अभिव्यक्त कर लेगा। इस प्रकार क्रोचे सहजानुभूति (intuation) को आंतरिक अभिव्यंजना या आंतरिक रूप-रचना मानता है, जो सौंदर्य तत्व को जन्म देती है। जो संवेदनों को अपने में खपाकर तथा उनके साथ एकाकार होकर एक मूर्त रूप प्राप्त कर लेती है। वह उसे आत्मा का अभिव्यंजनात्मक कर्म (expression activity) मानता है। इसी कर्म के द्वारा कलाकार भावनाओं तथा संवेगों के वेग को नियंत्रण में रखता है और प्रभावों को बिंबों में अभिव्यक्त कर स्वयं उनसे मुक्त हो जाता है।

सारांश यह है कि क्रोचे सहजानुभूति को अभिव्यंजना मानता है और यह अभिव्यंजना अंतर्मन में होती है,

बाह्य प्रकाशन अथवा प्रेषण नहीं, बाहर पत्थर, चित्रफलक या कागज पर उसका होना आवश्यक नहीं, जब तक अभिव्यंजना उत्पन्न होती है तो उसी क्षण उसके साथ दूसरी भी उत्पन्न होती है।

क्रोचे का यह मत सहजानुभूति बिंब रूप या अभिव्यक्ति होती है और वही कला है, उनके मत से कला और सहजानुभूति का अभिन्न संबंध है।

क्रोचे ने अन्य विचारकों के इस मत का खंडन किया है कि कला के लिए विशिष्ट प्रकार के स्वयं प्रकाश्य आवश्यक होते हैं अथवा स्वयं प्रकाश्य में असाधारण तीव्रता होने पर ही कला का सूत्रपात होता है। क्रोचे ने स्वयं प्रकाश्य में विभेद नहीं माना है।

क्रोचे की दृष्टि में कला एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है, कलाकार अपनी सहजानुभूति को पूर्ण अभिव्यक्ति देने में प्रयत्नशील रहता है। इस प्रयत्न के फल स्वरूप ही उसके मन पर पडे प्रभाव कल्पना का रंग ग्रहण कर विशद और मूर्त हो उठते हैं।

जब कलाकार अपने मानस में अनुभूति के लिए शब्द प्राप्त कर लेता है, किसी आकृति या मूर्ति की धारणा निश्चित एवं स्पष्ट हो जाती है, बस तभी यह माना जाएगा कि अभिव्यंजना उत्पन्न हुई। यदि वह चित्र या मूर्ति का निर्माण करता है, तो वह अतिरिक्त क्रिया होगी। जिस कलाकार का जितना अधिक विशद् प्रत्यक्षीकरण होगा, उतनी ही विशद और सफल उसकी अभिव्यक्ति होगी और चूँकि अभिव्यक्ति ही कला है, अतः उतनी ही सफल उसकी कला होगी।

क्रोचे अभिव्यंजना अर्थात् कला को आंतरिक क्रिया मानता है और उसी में सौंदर्यतत्व का अधिवास स्वीकार करता है। वह सहजानुभूति को शब्दों, रंग-रेखाओं में व्यक्त करना आवश्यक नहीं समझता बाह्य अभिव्यंजना का कला के विशुद्ध क्षेत्र से कोई संबंध नहीं। कलाकार की कलाकार के रूप में स्थिति केवल उन क्षणों में होती है, जब उसमें अतःस्फुरण होता है और वह ऐसा अनुभव करता है कि वह विषय के साथ तदाकार हो गया है। विश्व में जो भी उदात्ततम कविताएँ निर्मित हुई हैं वे कवि की मूल भावना की छाया ही तो है। सारांश यह है कि कवि काव्य निर्माण के पूर्व कृति का समग्र मानस दर्शन करता है। अपने अंतर्मन में उसका खाका खींच लेता है। फिर प्रश्न उठता है यदि बाह्य अभिव्यक्ति कला नहीं तो क्या है? क्रोचे की दृष्टि में प्रेषण और बाह्य प्रकाशन तो केवल सहायक साधन मात्र है। संप्रेषण एक व्यावहारिक क्रिया है। सौंदर्यात्मक क्रिया पूर्णतः सैद्धांतिक है।

क्रोचे बाह्य प्रकाशन को स्मृति की सहायक वस्तु कहता है, जिसकी सहायता से कलाकार अपनी सहजानुभूति को पुनः प्रस्तुत कर लेता है। इन कलाकृतियों के कारण उसकी सहजानुभूति, बिंब आदि नष्ट नहीं होते, उन्हें देखकर वह पुनः उस मानसिक स्थिति को प्राप्त हो जाता है, जिसमें उसके मन में सहजानुभूति का जन्म हुआ था। अतः बाह्य अभिव्यक्ति तो केवल व्यावहारिक उपयोगिता के लिए है, उसके द्वारा कवि अपनी अनुभूति को अपने और दूसरों के लिए चिरकाल तक सुरक्षित रखता है।

अभिव्यंजना ज्ञान रूप है और काव्य प्रकाशन कर्म-रूप। बिना ज्ञान के कर्म असंभव है, किंतु ज्ञान का अस्तित्व कर्म पर आश्रित नहीं रहता, वह अपने में ही परिपूर्ण है। अतः कला जब सिद्धांत के क्षेत्र से आगे बढ़ व्यवहार के क्षेत्र में पदार्पण करती है तभी उसके सामने प्रयोजन आदि के प्रश्न प्रस्तुत होते हैं, अन्यथा अभिव्यंजना,

सौंदर्य अथवा कला का एक ही प्रयोजन है, मन में सहज ज्ञान को आलोकित अथवा अभिव्यंजित करना। उससे जो संतोष और आनंद मिलता है, उसका मूल्य हम उपयोगिता अथवा नैतिकता की कसौटी पर कसकर निर्धारित नहीं कर सकते। कला नैतिकता और राजनीति से पूर्णतः निर्लिप्त है। कला का आनंद तो सफल अभिव्यक्ति से प्राप्त आत्ममुक्ति का आनंद है। सफल अभिव्यक्ति के क्षणों में कलाकार को ऐसा लगता है जैसे वह मुक्त हो गया हो। क्रोचे का यह भी मत है कि सफल अभिव्यक्ति में ही सौंदर्य निवास करता है और यदि अभिव्यक्ति सफल नहीं है तो वह अभिव्यक्ति ही नहीं।

ऊपर के विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं -

1. कला, अभिव्यंजना और सहजानुभूति पर्यायवाची है।
2. अभिव्यंजना बाह्य नहीं, मानसिक या आंतरिक होती है, अतः कला आंतरिक प्रक्रिया है।
3. बाह्य कलाकृतियों द्वारा कलाकार अपने अनुभव को अपने तथा दूसरों के लिए सुरक्षित रखता है। अतः वे aids to memory हैं।
4. असफल अभिव्यंजना नाम की कोई वस्तु नहीं होती।
5. कलाकार के लिए सुंदर तथा असुंदर का कोई भेद नहीं, उसे कलाकार के मनपर बिंब अंकित करने में समर्थ होना चाहिए।
6. रूप (form) हीं सौंदर्य का आधार है जो अभिव्यंजना का मूल है।
7. कल्पना सौंदर्य का अनिवार्य तत्व है।
8. कला सृजन की प्रक्रिया को चार स्थितियों में रखा जा सकता है -

   (क) ज्ञानेंद्रियों द्वारा वस्तुओं का प्रत्यक्ष किरण जो क्रमशः संवेदन में परिणत होकर संस्कार (impression) बन जाता है।

   (ख) अरूप संवेदनों की कल्पना शक्ति द्वारा आंतरिक अन्विति या अभिव्यंजना (spiritual synthesis)

   (ग) सौंदर्य की भावना से उत्पन्न अनुषांगिक आनंद (Hedonistic accompanment or pleasure of the beautiful)

   (घ) आंतरिक अभिव्यंजना का शब्द, रंग, रेखा आदि में मूर्ति करण। क्रोचे इस शिल्पविधान (craft) कहते हैं। इसके अंतर्गत ही प्रणिधान (Meditation) आता है, जिसमें कलाकार ग्रहण और त्याग, स्वीकृति-अस्वीकृति की प्रक्रिया से गुजरता है। इस प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप कलाकृति का निर्माण होता है।

क्रोचे ने कलादर्शन को आदर्श की चरमसीमा तक पहुँचा दिया है। उसमें भौतिकता, व्यावहारिकता और

विशुद्ध बौद्धिकता के लिए स्थान नहीं है। ज्ञान की ऐसी सैद्धांतिक प्रक्रिया को जिसमें संवेदनाएँ स्वंय प्रकाश्य के रूप में विशिष्ट रूप ग्रहण करती है, कला कहते हैं।

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का समीक्षापर सीधा प्रभाव पड़ा है। अमेरिकन विचारक स्पिनगार्न ने जिस नवीन समीक्षा के बारे में विस्तार से लिखा है वह क्रोचे की देन है। ऑलिवर एल्टन नामक अंग्रेज लेखक के अनेक निबंधों पर क्रोचे की छाप है। इटली में न केवल पिराँडेलो जैसे साहित्यकार वरन् अनेक आलोचक भी क्रोचे से प्रभावित हुए हैं। अभिव्यंजना सिद्धांत की स्वीकृति के बाद ऐसी आलोचना जो शिल्पविधान - एवं शैलीगत विशेषताओं (अलंकार, छंद आदि) पर आधृत थी, अनावश्यक बताई गई और आलोचना में सच्चाई, स्वैच्छिकता, स्वतः प्रवर्तिता आदि को महत्त्व दिया जाने लगा। कला और साहित्य के वर्गीकरण को भी क्रोचे ने अमान्य ठहराया और अभिव्यंजना को अखंड मानते हुए कला के क्लासिकल, रोमँटिक, प्राचीन, मध्य युगीन, आधुनिक आदि भेदों को निरर्थक बताया।

उसने एक ओर भौतिकवाद और यथार्थवाद को चुनौति दी, तो दूसरी ओर का और कामवासना को एक सूत्र में बाँधने वाले मनोविज्ञान को त्याज्य बताया। नैतिकता और व्यावहारिकता को कला की परिधि से निकालकर क्रोचे ने बौद्धिकता को भी कला तत्व से पृथक कर दिया। इस प्रकार उन्होंने कला-समीक्षा को स्वतंत्र और आत्मनिष्ठ बना दिया।

**अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति सिद्धांत**

आचार्य शुक्ल ने अभिव्यंजना वाद को वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कहा है। अपने इंदौरवाले भाषण में उन्होंने कहा कि - क्रोचे का अभिव्यंजनावाद सच पूछिए तो एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद है। परंतु शुक्ल जी की यह धारणा विद्वानों की दृष्टि से भ्रामक है। जिसे हम रूप या अभिव्यंजना कहते हैं, क्रोचे उस रूप या अभिव्यंजना को नहीं मानता।

क्रोचे के सैद्धांतिक अभिव्यंजनावाद में अभिव्यंजना के आंतरिक होने के कारण वाग्वैचित्र्य के लिए कोई स्थान नहीं है।

इन दोनों सिद्धांतों में कुछ साम्य होते हुए भी उतना ही अंतर है जितना पूर्व और पश्चिम में। कुंतक और क्रोचे दोनों कलावादी आचार्य थे, अतः दोनों ने अभिव्यंजना को कला का प्राण तत्व माना है। दोनों ने काव्य में कल्पना तत्व को प्रधानता दी है। दोनों अभिव्यंजना को अखंड मानते हैं। दोनों काव्य में अन्यून तथा आनातिरिक्त प्रयोग को आवश्यक मानते हैं, दोनों का कहना है कि एक अर्थ का वाचक एक ही शब्द होता है। दोनों अलंकार की बाह्यता का खंडन करते हैं। दोनों सफल अभिव्यंजना में श्रेणियाँ स्वीकार नहीं करते, दोनों के अनुसार काव्य में अभिव्यंजना सफल होती है, वह कम या अधिक सफल नहीं होती।

इन समानताओं के होते हुए भी दोनों वाद पर्योप्त मात्रा में भिन्न हैं, क्योंकि एक का प्रचारक अलंकारवादी था तथा दूसरे का दार्शनिक। क्रोचे का विचार क्षेत्र कला मात्र है, कुंतक का क्षेत्र काव्य तक सीमित है। क्रोचे का विवेचन कला के सर्जन से संबंद्ध है, कुंतक का काव्य के आस्वादन से। कुंतक ने अलंकारवादी आचार्य होने के नाते अलंकार मयी उक्ति, वैदग्ध्यतापूर्ण शैली, कवि कर्म कौशल आदि काव्य के बाह्य अंगों पर बल दिया। कुंतक ने चमत्कारपूर्ण तथा चमत्कार हीन उक्ति में, वक्रोक्ति तथा वार्ता में स्पष्ट भेद किया और केवल

चमत्कार पूर्ण उक्ति को काव्य माना है। इसके विपरित क्रोचे दार्शनिक था वह सहजानुभूति को ही अभिव्यंजना मानता था। अतः उसके लिए चमत्कार पूर्ण और चमत्कार हीन, वक्र तथा ऋजु उक्ति का भेद था ही नहीं। वह तो असफल उक्ति या असफल अभिव्यंजना का अस्तित्व ही नहीं मानता। वस्तुतः क्रोचे के लिए कला, सहजानुभूति, अभिव्यंजना पर्यायवाची है अतः उसकी दृष्टि में काव्य के बाह्य और आंतरिक भेद नहीं किए जा सकते - विषय और शैली को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। उक्ति को वक्र और ऋजु भेदों में नहीं बाँटा जा सकता। सारांश यह है कि क्रोचे उक्ति को काव्य मानते हैं और कुंतक वक्रोक्ति को। अभिव्यंजनावाद में वक्रता पूर्ण उक्तियों का तो मान है ही स्वभावोक्तियों को भी यथेष्ट स्थान है।

क्रोचे के अनुसार काव्य की आत्मा सहजानुभूति है, अतः कवि को उसके लिए आयास नहीं करना पड़ता। जब कि कुंतक के अनुसार काव्य की आत्मा वक्रोक्ति है जिसके लिए कवि को परिश्रम और प्रतिभा की आवश्यकता पड़ती है।

क्रोचे के अनुसार कला का कोई प्रयोजन नहीं हुआ करता, सौंदर्य और उसकी प्रतिरूप अभिव्यंजना अपना उद्देश्य आप ही है। उसके अनुसार काव्य का चरम उद्देश्य आनंद नहीं, आनंद तो अभिव्यंजना का सहचारी है। कवि काव्य रचना अभिव्यंजना के लिए करता है, आनंद के लिए नहीं। हाँ, अभिव्यंजना के समय आनंद उसे अवश्य प्राप्त होता है। इसके विपरित कुंतक काव्य का चरम लक्ष्य आनंद मानते हैं और सौंदर्य को उसका कारण स्वीकार करते हैं।

क्रोचे वस्तु और रूप, विषय तथा अभिव्यंजना में अभेद मानते हैं, कुंतक दोनों में भेद मानते हैं। क्रोचे के विवेचन में वस्तु - तत्व की स्थिति अत्यंत गौण है, वह किसी भी विषय को, यदि उसमें कलाकार को प्रभावित करने की शक्ति है, उसके मनःपटल पर बिंब अंकित करने की क्षमता है, काव्य या कला के लिए उपयुक्त मानता है, भले ही वह कुरूप ही क्यों न हो। इसके विपरित कुंतक के मत में विषय वस्तु का पर्याप्त महत्व है। क्रोचे के अभिव्यंजना वाद में नीति-अनीति का प्रश्न नहीं उठता, जब कि वक्रोक्तिवाद भारतीय दर्शन और विचार परंपरा के अनुरूप नीतिवादिता को कभी नहीं त्याग सका। क्रोचे विभाजन और वर्गीकरण के विरोधी हैं, कुंतक का विवेचन वर्गीकरण पर आधारित है।

जिस प्रकार वक्रोक्तिवाद आरंभ में केवल शब्द या अर्थ में ही चमत्कार उत्पन्न करने पर बल न देकर रस को भी प्रेय मानता था पर बाद में वह संकुचित होकर केवल चमत्कार वादियों का संप्रदाय बन गया, उसी प्रकार यद्यपि क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में वाग्वैदग्ध्य और चमत्कार मात्र पर आग्रह न था, पर उनके परवर्ती कलावादियों ने उसे चमत्कारवाद बना दिया।

**प्रतीकवाद और बिंबवाद**

**प्रतीकवाद**

साहित्यिक आंदोलन के रूप में प्रतीकवाद अपेक्षाकृत नया कद है। फ्रांस में उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में (1886 ई.) तथा इग्लैंड में बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों में ही उसकी प्रतिष्ठा हुई।

प्रतीक उतने ही पुराने हैं जितनी मानव जाति। प्लोटाइनस के युग में भी कला की अवधारणा प्रतीकात्मक

रूप में की जाती थी। जर्मन विद्वान श्लेगल ने कहा था कि कला का सार प्रतीकात्मक है। प्रतीक वादी आंदोलन के बाद प्रतीकों का प्रयोग सायास और सचेत रूप से होने लगा। प्रतीकवादी आंदोलन जिसके विकास का श्रेय पो, बर्लेन, मलार्मे, तथा रिम्बां को है। यह भी सत्य है कि कला किसी न किसी अर्थ में सदा प्रतीकात्मक रही है।

बीसवीं शताब्दी में सौंदर्य परक प्रतीकवाद का उद्भव उन्नीसवीं शताब्दी की कला एवं चिंतन संबंधी मनोदृष्टि के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। प्रतीकवाद सौंदर्यान्मुख था क्योंकि प्रतीकवादी कलाकार 'Ideal Beauty में विश्वास रखता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में आध्यात्मिक मूल्यों को अमूर्त प्रतीकों द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया, प्राकृतिक पदार्थों को प्रतीकात्मक अर्थ दिया गया। प्रतीकवादियों ने वस्तुओं के पक्षों या रूपों को प्रस्तुत करने की अपेक्षा विचारों और भावों को अप्रत्यक्ष संकेतद्वारा प्रस्तुत करना अपना लक्ष्य बनाया। उन्होंने विशेष वस्तुओं, शब्दों और ध्वनियों को प्रतीकात्मक अर्थ से मंडित किया। उनका मत है कि व्यक्ति के लिए यह कठिन कार्य है कि वह अपने संवेग और संवेदन को सामान्य भाषा में ठीक तरह व्यक्त करे क्योंकि प्रत्येक कवि के व्यक्तित्व की अपनी वक्रताएँ होती हैं, उसके संवेग विशिष्ट होते हैं। वह अपनी अनुभूति की विशिष्टता के अनुरूप अभिव्यक्ति की तलाश में प्रतीकों का निर्माण करता है क्योंकि प्रतीक में असीम व्यंजनात्मकता निहित रहती है। प्रतीक पूर्ण सादृश्य के कारण नहीं अपितु धुँधली व्यंजना, आकस्मिक अथवा रूढ़िगत संबंध के कारण किसी दूसरी वस्तु को संकेतित या सूचित करता है। सौंदर्य शास्त्र में प्रतीक अपने प्रत्यक्ष आशय के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की व्यंजना करता है। विशेषतः उस आदर्श विषय की जिसे वह पूर्णतः आत्मसात नहीं कर सकता।

**प्रतीक वाद की व्याख्या**

प्रतीकवाद शब्द की व्युत्पत्ति प्रतीक शब्द से हुई है और प्रतीक का आशय अत्यंत व्यापक होता है। साहित्य के क्षेत्र में 'प्रतीक' ऐसे शब्द चिह्न अथवा वस्तु को कहते हैं जिसके माध्यम से किसी अन्य वस्तु का बोध कराता है तथापि उसकी निजता-सार्थकता बराबर बनी रहती है।

इस संबंध में प्लेटो की यह मान्यता अत्यंत प्रसंगोचित दिख पड़ती है, "किसी बात को स्पष्ट रूप से कहने के लिए आसान तरीका यह है कि वह क्या है न कहकर यह कहा जाए कि वह किस वस्तु का अनुरूप है? किसी अन्य वस्तु से उसकी तूल्यरूपता अथवा समानधर्मिता की बात कहकर उसे सहज ही स्पष्ट किया जा सकता है।" साहित्य के क्षेत्र में प्रतीक एक सुपरिचित शब्द है क्योंकि जिन शब्दों के समुच्चय से साहित्य का सृजन होता है, वे शब्द भी तो अपने आप में किन्हीं भावों, संवेगों, मनःस्थितियों के प्रतीक हैं। कदाचित् इसी कारण आलोचकों का एक वर्ग यहाँ तक मानता है कि कला और साहित्य के क्षेत्र में प्रतीकवाद किसी न किसी रूप में सदा सदा से चला आ रहा है।

**प्रतीकों का वर्गीकरण -** उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण में फ्रांसीसी कवियों के एक वर्ग ने अपनी विशिष्ट संवेदनाओं को आत्मसात करने और उन्हें व्यक्त करने के लिए प्रतीक को कलात्मक उपकरण के रूप में ग्रहण किया।

इग्लैंड में प्रतीकवाद का प्रमुख प्रतिनिधि डब्ल्यू. बी. यीटस् है। वह ब्लेक और शैले से चली आती एक स्वतंत्र और समानांतर परंपरा का अंग है। यीटस् ने अपनी काव्य साधना में जीवन, कला और सभ्यता का एक नया दर्शन प्रस्तुत किया और प्रतीक के माध्यम से कल्पना के धरातल पर जीवन की सर्वांगीण एकता की पुनःप्रतिष्ठा की। उसने साहित्यिक प्रतीकवाद द्‌वारा जीवन के गंभीर अर्थ की व्यंजना की, वर्तमान विभाजन और विखंडन के बीच एकता की भावना लाने का प्रयास किया।

जिस प्रकार दान्ते ने मसीही धर्म के अंतर्गत स्वर्ग और नरक के स्वीकृत प्रतीकों द्‌वारा अपने बिंब का निर्माण किया, उसी प्रकार वर्तमान युग में फ्रांन्सीसी कवि मालार्मे ने भी अपने काव्य में प्रतीकों का प्रयोग कर आदर्श सौंदर्य को बाँधने का प्रयास किया। उनके अनुयायियों की रचनाओं में प्रायः प्रत्येक शब्द प्रतीक है।

प्रतीकवादियों का प्रतीक-विधान भी परंपरागत प्रतीकों से भिन्न है। यह भिन्नता प्रधानतः प्रतीकों की वैयक्तिकता के कारण है। प्राचीन प्रतीकों का साधारणीकरण सुलभ था, पर आज के प्रतीक वादियों के प्रतीक वैयक्तिक, और अप्रकट मनोग्रंथियों पर निर्भर हैं, अतः विशिष्ट और अनबूझ होते हैं।

**प्रतीकवाद का महत्व और सीमाएँ**

प्रतीकवादी काव्य में प्रतीकों के द्‌वारा सूक्ष्म अर्थ की व्यंजना की जाती है, साथ ही उसमें शब्द और संगीत एक हो जाते हैं। प्रतीकवादियों की शक्ति आदर्श के प्रति उनकी लगन में निहित है! उनका संसार सीमित होते हुए भी समृद्‌ध है, क्योंकि अदृष्ट सीमातीत है। इस काव्य में ईमानदारी थी, साथ ही वह भावना को उत्तेजित भी करता था। उसमें रूढ अलंकार शास्त्र या क्षुद्र नैतिकता नहीं थी। सौंदर्य के अतिरिक्त उसका कोई और साध्य नहीं था।

**सीमाएँ -** इन प्रतीकवादी कवियों ने यद्‌यपि नए प्रतीकों का प्रयोग किया है, उन्हें अनुभव के वैविध्यपूर्ण क्षेत्र से ग्रहण किया है अतः उनमें से अनेक दुर्बोध है और कवि के निकट उनका जो अर्थ था वह पाठक नहीं समझ पाते। इनके काव्य में सार्वजनिक और वैयक्तिक विषयों की वर्जना है। प्रतीकवादियों के लिए राजनीति अप्रिय और अनात्मिक विषय है। वह यथार्थवादी या वैज्ञानिक दृष्टि का भी विरोधी है। साधारण भावनाओं को स्वयं से विच्छिन्न कर उसने अपने आप को जीवन के एक विस्तृत भाग से अलग कर लिया। इस दृष्टिकोण ने कविता और साधारण जीवन के बीच एक दीवार खींच दी। इसी संदर्भ में एक आलोचक का कथन है कि - प्रतीकवाद के पास न तो कोई ठोस दार्शनिक भूमि है और न कोई राजनीतिक और सामाजिक विचारणा ही है। इनके आलोचकों एवं कवियों के वक्तव्य नाना प्रकार के अंतर्विरोध लिए हुए हैं।" यही कारण है कि आलोचकों का एक बड़ा वर्ग प्रतीकवाद को एक स्वतंत्र एवं स्वायत्त काव्य सिद्‌धांत के रूप में मान्यता तक नहीं देता।

हिंदी साहित्य में प्रतीकवाद प्राचीन काल से हैं। नए रचनाकारों के प्रतीक-विधान भी नए काल के अनुसार बदलते हैं। अज्ञेय, दुष्यंतकुमार, धर्मवीर भारती, केदारनाथ अग्रवाल आदि की रचनाओं में विभिन्न प्रतीकों के दर्शन होते हैं।

**बिंबवाद** - 'बिंब' अंग्रेजी के 'Image' शब्द का हिंदी रूपांतर है। उसका अर्थ है किसी - पदार्थ को मूर्त रूप प्रदान करना, चित्रबद्‌ध करना मानसी - प्रतिकृति उतारना।

बिंब एक प्रकार का भाव गर्भित शब्द चित्र है। वह केवल हमारे चक्षु इंद्रिय को ही तृप्त नहीं करता, अन्य इंद्रियों की भूख मिटाता है। भाव जगाना उसकी अनिवार्य आवश्यकता है।

इस संदर्भ में डॉ. नगेंद्र लिखते हैं "काव्यबिंब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छबि है, जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।" कालरिज ने कहा है - "They become proofs of original genius only as far as they are modified by a predominant passion" सारांशतः बिंब शब्दों में बुना वह चित्र है जो कवि के तीव्र भावावेश को पाठक तक संप्रेषित करता है।

बिंब निर्माण में पहली स्थिति है कवि और वर्ण्य वस्तु का तदाकार हो जाना - और इस तदाकारिता के लिए कवि में वस्तुनिष्ठता, ऐंद्रिय बोध और भावोद्रेक के साथ-साथ कल्पना शक्ति का होना आवश्यक है। सादृश्य तथा तुलना के तत्व बिंब विधान के लिए महत्वपूर्ण है, पर यह अनिवार्य नहीं कि वस्तुगत, मूर्त या स्थूल की तुलना वस्तुगत, मूर्त अथवा स्थूल से ही की जाए। इनका विपर्यय भी हो सकता है - श्रेष्ठ बिंबों के द्वारा मूर्त को भावरूप और भाव को मूर्तरूप दिया जाता है।

बिंब विधान संयुग - संकुल प्रयास होता है। कलाकार विविध, विपरित वस्तुओं, मनःस्थितियों और धारणाओं को अपनी कल्पना में परस्पर मिलाकर एक नवीन संदर्भ अथवा अनुक्रम देता हैं, उनमें अनेक मार्मिक छबियों का आधान करता है।

**काव्य बिंब का प्रयोजन -** बिंब की सफलता सहृदय चित्त में संवेदनों को उद्बुद्ध करने की क्षमता पर निर्भर करती है और इसके लिए कवि उन्हें चित्र धर्मी तो बनाता ही है, अपने हृदय के रस और संवेग से आप्लावित कर देता है। बिंब विधान के लिए कल्पना आवश्यक है। वह दो कार्य करती है - पहले स्मृति के क्रोड में सोते हुए बिंबों को प्रत्यक्ष उपलब्ध अनुभूतियों के स्पर्श से जगाती है और फिर उन बिंबों को शिल्प के साँचे में ढालती है, उन्हें मधुमय एवं कलात्मक बना देती है।

प्रभावों की इंद्रियगम्य प्रतिकृति होने के कारण बिंब में दृश्य, कलाओं, स्थापत्य, मूर्तिकला और चित्रकला के तत्व अधिक रहते हैं क्यों कि बिंब प्रायः दृश्य होते हैं तथा उनका संबंध रूप और आकार से अनिवार्यतः रहता है।

काव्य-बिंब का मुख्य कार्य संप्रेषणीयता है। वह कलाकार की अनुभूति और प्रमाता के बीच संबंध स्थापित करने वाला सूत्र है। वह विषय को स्पष्ट करता है, दृश्य, भाव या व्यापार को समृद्ध करता है। कवि की अनुभूति को तीव्र बनाता है और पाठक में ऐसी संवेदना जगाता है कि जिसकी उपलब्धि नित्य प्रति के जीवन में नहीं होती। वह चित्रात्मक प्रतिरूप मात्र नहीं है। वह क्षणमात्र में बौद्धिक और संवेगात्मक जटिलताओं और भावग्रंथियों को हमारे सामने उपस्थित कर देता है और असंगत और विषम भावों में एकीकरण और एकसूत्रता स्थापित करता है।

तीव्र घनता से बिंब छोटे फलक पर अधिकतम अर्थवत्ता के केंद्रीकरण की शक्ति अर्जित करता है, कम से कम शब्दों के द्वारा एक सघन और विराट अनुभूति को व्यक्त करता है। बिंब भाषा शैली, सामग्री की नवीनता के द्वारा ऐसे भावों का उद्घाटन करते हैं जिससे हम पहले परिचित न थे।

**बिंबों के आवश्यक गुण -** केवल अलंकरण अब बिंब का कार्य नहीं रह गया है, अतः अभिष्ट प्रभाव डालने के बिंब का विषय एवं काव्यरूप के अनुकूल होना भी जरूरी है।

बदलता हुआ जीवन, जीवन के नए संदर्भ, नई सभ्यता, आचरण के नए रूप, विचार जगत् में नए तत्व प्रकट करनेवाले बिंब होने चाहिए। बिंब संप्रेषणीय होने चाहिए।

**बिंबों का वर्गीकरण**

बिंबों का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया गया है - अभिव्यंजना पद्धति की दृष्टि से, स्वरूप की दृष्टि से, ग्राह्यइंद्रियों के आधार पर, अर्थ की दृष्टि से।

अभिव्यंजना पद्धति की दृष्टि से बिंबों के दो प्रकार बताए गए हैं - प्रत्यक्ष बिंब (Direct Image) और अलंकृत बिंब (Figurative Image) प्रत्यक्ष बिंब में कवि सामान्य परंतु अर्थपूर्ण शब्दों द्वारा चित्र अंकित करता है। अलंकृत बिंब में कवि रूपक, उपमा आदि अलंकारों द्वारा उसका विधान करता है। काव्य में अलंकृत या उपलक्षित बिंब का बहुत महत्व है।

स्वरूपगत विशिष्टता की दृष्टि से बिंबों के भेद हैं - सरल, जटिल, तत्कालिक, अमूर्त अथवा इन सब के संयोग से निर्मित संयुक्त बिंब।

कुछ व्यक्तियों ने बिंबों के दो वर्ग किए हैं - स्थिर तथा गत्यात्मक।

एक अन्यवर्गीकरण है - बंधयुक्त या स्वतंत्र तथा उन्मुक्त प्रथम बिंब पाठकों में सब में समान भाव जगाता है तो द्वितीय भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न भाव जगाता है।

प्रेरक अनुभूति के आधार पर बिंबों के सरल, मिश्रित, खंडित और समकालिक ऐसे भेद हैं। काव्यार्थ की दृष्टि से दो भेद हैं - एकल और संश्लिष्ट। ऐंद्रिय बोध के आधार पर दो वर्ग किए गए हैं, जो मन को प्रभावित करते हैं उन्हें सूक्ष्म संवेदनात्मक बिंब कहा गया है - और जो स्थूल इंद्रियों - नेत्र, कान, नासिका, त्वचा और रसना विषय होते हैं, उन्हें स्थूल संवेदनात्मक बिंब कहा गया है।

**स्थूल संवेदनात्मक बिंबों के भेद हैं -**

चाक्षुष, श्रावण, घ्राणिक, स्पार्शिक, रासनिक, गतिबोधक, वेगोद्भेदक।

जब कोई बिंब हमारी एक से अधिक इंद्रियों को तृप्त करता है तो उसे संकुल अथवा मिश्र बिंब कहते हैं।

वेगोद्भेदक बिंब में तिग्म-ध्वनि-गुण, त्वरा, विस्फोट और विभ्राट।

युंग ने आदि-बिंब की चर्चा की है। उनके अनुसार इनका संबंध मनुष्य के चिंतन और संवेदन से है।

**बिंब और प्रतीक की तुलना**

कल्पना से बिंब जन्म लेता है और बिंबों से प्रतीक का आविर्भाव होता है। जब कल्पना मूर्त रूप धारण करती है तब बिंबों की सृष्टि होती है और जब बिंब व्युत्पन्न अथवा बार-बार प्रयुक्त होने से किसी निश्चित अर्थ में निर्धारित हो जाता है तब प्रतीक का निर्माण होता है।

बिंब स्वतः संभवी होते हैं जबकि प्रतीकों का निर्माण सचेष्ट क्रिया है। प्रतीक निर्माण में बुद्धिकर्ता के पद पर रहती है जब कि बिंब का प्रमुख धर्म है ऐंद्रियता।

प्रतीक में सूक्ष्म अर्थ की नियोजना रहती है, उसकी संपूर्ण व्याख्या अन्य शब्दों में नहीं की जा सकती, बिंब का सीधा संबंध अभिव्यक्ति और मानस पटल पर उभरनेवाले चित्रों से है।

बिंबद्वारा प्रेषित अर्थ सहज ग्राह्य और सबके लिए एक-सा होता है। इसके विपरित प्रतीक द्वारा प्रेषित अर्थ सहज ग्राह्य और सबके लिए एक-सा होता है। इसके विपरित प्रतीक द्वारा प्रेषित अर्थ भिन्न-भिन्न पाठक अपनी-अपनी सूझ-बूझ, शक्ति, शिक्षा-दीक्षा और योग्यता के अनुसार अलग-अलग ग्रहण करेंगे। अनेक बार पाठक प्रतीक को अभीष्ट अर्थ में समझ नहीं सकता। उसे समझने के लिए संदर्भ महत्वपूर्ण है।

**संप्रेषण सिद्धांत -**

**स्वरूप और महत्व - रिचर्डस् का योगदान**

रिचर्डस् के आलोचनात्मक चिंतन का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व संप्रेषणीयता है। कवि भी पहले एक व्यक्ति होता है और बाद में कवि अथवा कुछ और। अतः स्वभावतः उसके अंतर्मन में भी अनुकूल और प्रतिकूल एषणाओं का संघर्ष चलता रहता है। कवि अपनी अनुभूतियों को कविता के माध्यम से संप्रेषित करता है और पाठक अपने विवेक और बुद्धि के अनुसार उन अनुभूतियों का ग्रहण करता है। कवि अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में बहुविध अनुभव प्राप्त करता है और यही अनुभव परिपक्व होने पर अनुभूति का रूप धारण कर लेते हैं। तदुपरांत कवि अपनी कविता के माध्यम से इन अनुभूतियों को अभिव्यक्त करता है और पाठक कवि की अनुभूति का ही आनंद लेता है। कवि का उद्देश्य यही होता है कि पाठक के भीतर भी वही अनुभूति जाग्रत हो जो कि कवि ने अनुभव की थी।

संप्रेषण की यह प्रक्रिया क्या है? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। क्या कवि की अनुभूतियाँ संप्रेषण के लिए ही होती हैं अथवा क्या कवि जो कुछ अनुभव करता है, उसके संप्रेषण के प्रति वह सदैव जागरूक रहता है। दूसरे शब्दों में क्या कवि के सामने विभिन्न परिस्थितियों, घटनाओं आदि का अनुभव करते समय उन सभी के संप्रेषण का प्रश्न रहता है? निस्संदेह नहीं। अनुभव कवि के हाथ की बात नहीं होते। पहले से ही यह नहीं कहा जा सकता कि अगले क्षण कवि का अमुक अनुभव होगा। इसके अतिरिक्त ये सारे अनुभव अचेतन मन की निधि होते हैं। मनुष्य के अचेतन स्तर पर बहुविध अनुभव होते रहते हैं।

रिचर्डस् के अनुसार संप्रेषण इसी अचेतन मन का व्यापार है और मन का यह अचेतन स्तर हमारी ऐसी वासनाओं और प्रवृत्तियों का शरण स्थल है जहाँ वे सामाजिक और नैतिक अंकुशों के प्रहार से बचने के लिए मुँह छिपाए पडी रहती हैं। हमारी ये दमित प्रवृत्तियाँ समाप्त अथवा तिरोहित नहीं हो जाती, बल्कि चेतन स्तर पर आने के लिए छट पटाती रहती हैं। काव्य सृजन करते समय कवि के समक्ष पाठक नहीं होता, उसके अपने मन को तुष्ट करने का प्रश्न होता है। कवि अपने अंतर्मन की बात कहकर किसी पाठक अथवा प्रमाता पर कोई कृपा नहीं करता अपितु स्वयं अपने मनके भार को हल्का करता है।

होता यह है कि अचेतन मन की दमित मनोवृत्तियाँ और वासनाएँ छद्म वेष में प्रकट होती है। साहित्यकार और कलाकार अपनी दमित प्रवृत्तियों से उत्पन्न अपनी काम तृप्ति को एक ऐसा रूप और छद्म वेश प्रदान करता है, जिसे ग्रहण करने में समाज को संकोच नहीं होता और साहित्यकार को मानसिक परितोष होता है।

संप्रेषण की प्रक्रिया दोहरी होती है। कवि अपनी योग्यता और प्रतिभा के अनुसार अपनी अनुभूतियों का संप्रेषण करता है और पाठक अपनी योग्यता नुसार उसे ग्रहण करता है। यदि कवि अपनी बात ढंग से नहीं कह पाया अथवा पाठक का बौद्धिक स्तर उतना ऊँचा नहीं हो सका कि वह कवि की बात को समझ सके तो सफल संप्रेषण नहीं कहा जा सकता।

**रिचर्डस् के मतानुसार -** "संप्रेषण तब घटित होता है जब एक मन अपने परिवेश के प्रति इस प्रकार से प्रतिक्रिया व्यक्त करता है कि दूसरा मन उससे प्रभावित हो जाता है और उस दूसरे मन में ऐसी अनुभूति उत्पन्न होती है जो प्रथम मनकी अनुभूति के समान और अंशतः उसके कारण है।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि संप्रेषण केवल उसी स्थिति में सफल कहा जा सकता है जब कवि और प्रमाता के मध्य एक प्रकार का भावात्मक मेल हो। संप्रेषण तभी विफल होता है जबकि कवि द्वारा संप्रेषित की जानेवाली अनुभूतियों और प्रमाता की अनुभूतियों में टकराव हो जाता है।

सफल संप्रेषण के लिए यह भी आवश्यक है कि प्रमाता में अपेक्षित विवेक शक्ति और कवि के बात को समझने की बुद्धि भी हो। कविता प्रत्येक व्यक्ति के लिए नहीं होती। साहित्य का आस्वाद प्रत्येक मानसिक स्तर और रूचि नहीं हो सकते। कविता का आनंद एक सहृदय व्यक्ति ही उठा सकता है, जिसके मस्तिष्क की शिराओं में कविता के लिए 'एक प्रकार की ललक हो जो कविता की प्रत्येक पंक्ति, पंक्ति के प्रत्येक शब्द, शब्दों में छिपी प्रत्येक भाव की गहराई में जाने की अद्भुत क्षमता रखता हो। हृदय का यह उन्मुक्त विलास, भावों का यह सजीला जमघट, कल्पना की यह सतरंगी छटा - यह सब उसी प्रमाता के लिए अर्थवान है जो कि उन्हें पहचान और समझ सकता हो।

रिचर्डस के मतानुसार बाह्यतः एक से होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति की उसकी पृथक और स्वतंत्र सत्ता है, और इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का मन और उसकी अनुभूतियाँ भी अलग अलग होती हैं। रिचर्डस के अनुसार संप्रेषण की प्रक्रिया दो व्यक्तियों के मध्य की एक मानसिक प्रक्रिया है और ये दो व्यक्ति हैं कवि तथा प्रमा ता।

# संरचनावाद

संरचनावाद के प्रवर्तक फर्डिनेंड डि सॉसियों थे। वे स्वीडन के अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित भाषाविद् थे। सॉसियों को हिंदी में सासूर नाम से जाना जाता है। सासूर ने 1906 से 1911 के बीच जिनिवा विश्वविद्यालय में भाषा विज्ञान पर भाषण दिए। यही से संरचनावादी भाषाविज्ञान की शुरूआत होती है। सासूर ने अपने संरचनावादी भाषा-विज्ञान में कुछ बड़े ही विचित्र तथ्यों - जैसे मिथक, अनुष्ठान, संगोत्रता और उससे जुडे संबंधों, सामाजिक रीतियों आदि का अध्ययन किया। उन्होंने उसे संकेत व्यवस्था (signifying system) मानकर उनकी भाषागत संभावनाओं के रहस्य को समझने का सिलसिला शुरू किया। सासूर ने अनुभवजन्य तथा प्रकायात्मक (functional) बातों को नजर अंदाज करके मिथक और अनुष्ठान में व्याप्त उन अंतर्संबंधों को प्रमुखता दी, जिनके द्वारा एक विशिष्ट अर्थ की निष्पत्ति होती है, यही अर्थ सासूर के अनुसार संकेतात्मक तत्त्वों के अंतर से निकलता है।

**संरचनावाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :** रूसी रूपवाद पहला संप्रदाय है जिसने 'साहित्य के रूप में साहित्याध्ययन' की एक संपूर्ण पद्धति प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। रूसी रूपवाद में संरचनावादी दृष्टि और संरचनावाद के बीज पड़े हैं। इसीलिए रूसी रूपवाद को संक्षेप में देखना आवश्यक है। रूसी रूपवाद 'जिसे शब्द की वापसी' नाम के लेख के जरिए विक्टर स्लोवस्की ने आरंभ किया और रोमान जैकोबसन ने इस काव्यभाषा के सिद्धांत की उसकी दर्शनिक उँचाइयों तक पहुँचाया।

रूपवाद कोई पद्धति शास्त्र नहीं, सौंदर्यशास्त्र है। यह एक साहित्य का एक आत्मनिर्भर, और स्वतंत्र विज्ञान तैयार करने का ऐसा प्रयत्न है जो साहित्य सामग्री का अध्ययन कर सके।

स्लोवस्की ने 'अपरिचयीकरण' (डिफेमिलियराइज) का सिद्धांत प्रस्तुत किया। जिसके तहत अनुभव हमारी आदतों में, हमारे रोजमर्रा में अंतर्भुक्त हो जाते हैं, उन्हें अपरिचित बनाना ही साहित्य है। कविता की भाषा कभी टेढी, कभी कठिन, कभी जटिल बन कर अपरिचय से परिचय करा देती है यहीं रूपवाद है। कविता में रोजमर्रा की भाषा अजनबी बनाई जाती है। यही शब्द का अजनबीकरण है, नयापन है। यही उसका रूप है। काव्यभाषा रोजमर्रा की भाषा से सिर्फ इसलिए अलग नहीं होती क्योंकि उसके शब्द रोजमर्रा की जिंदगी में नहीं मिलते, बल्कि इसलिए अलग होती है क्योंकि उसकी तरकीबें (लय या तुक रोजमर्रा के सामान्य शब्दों को नया (अपरिचित) बनाती है, स्वरों को बदलती है। रूसी रूपवाद का दुनिया भर के साहित्य एवं भाषा चिंतन पर असर हुआ। इस रूपवाद ने साहित्य को रचनाकार और परिस्थिति से अलग कर दिया। लिखित पाठ के अवधारणा के बीज यहीं पडे। जो बाद में संरचनावाद तथा उत्तर संरचनावाद के बुनियादी और निर्णायक पद बने। यही भाषाविज्ञान का संरचनावादी सूत्र था जो संसार के उद्देश्य के लिए भाषा की संरचना के प्रकार्य (function) को समझने की कोशिश में था।

रूपवाद ने अंतर्वस्तु और रूप के परंपरागत विरोध को चुनौती दी थी और रूप और अंतर्वस्तु की जगह तरकीब और सामग्री पर जोर दिया था। तरकीबें वे तरीके थे जो परिचित को अपरिचित बनाने के काम आते थे। वे ही कविता के प्रकार्य (function) थे।

सर्कल के अनुसार भाषाविज्ञान का लक्ष्य भाषागत व्यवस्थाओं को समझना है। कविता भी एक तरह की

भाषागत संरचना है। संरचना क्या है? वह भाषा में विभिन्न तत्वों के संबंधों की एक व्यवस्था है। साहित्य में संरचना रूप और तरकीब दोनों का समहार है।

रोमान जैकोबसन ने 1968 में अमेरिका में 'क्लोजिंग स्टेटमेंट' वाले अत्यंत प्रख्यात लेख में बताया कि किसी भी संदेश के 6 प्रकार्य होते हैं जो किसी भी संचार के मौजूद छह तत्वों के समांतर चलते हैं। 1. वाचक 2. श्रोता 3. संदर्भ 4. संहिता 5. संपर्क माध्यम 6. संदेश। कविता का प्रकार्य संदेश के केंद्र में होता है। अगर वाचक केंद्र में है तो उसके संदेश में प्रकार्य होता है। श्रोता या पाठक केंद्र में है तो प्रभाव एक प्रकार्य है। यदि संदर्भ केंद्र में है तो संदेश की स्थिति प्रमुख हो उठती है। संहिता पर जोर है तो भाषा की आंतरिक संरचना यानि व्याकरण पर जोर है। यदि संपर्क माध्यम पर जोर है तो दुहरे संवाद पर जोर आ जाता है। हर सूरत में 'संदेश' पर जोर रहता है। यही काव्यात्मक प्रकार्य है।

प्राग सर्कल का संरचनावाद साहित्य की सकल संरचना को सकल चिन्ह संरचनावाद की तरह देखता है। उनका काम यह है कि पाठ में प्रचलित भाषा भिन्नता, वह पाठ में किस तरह आती है फिर उसके स्तर, अक्षरविन्यास, विषय वस्तु आदि से मिलाकर सकल संरचनात्मक संपूर्णता को सिद्ध करें।

हर भाषाई संदेश दो प्रक्रियों में चलता है।

1. अनुपस्थित बहुत-सी चीजों में एक का चयन

2. चयनित के व्यवस्था संबंध का चयन

सासूर के अनुसार पहला तुल्यता और दूसरा समुच्चय है।

जैकोबसन के अनुसार भाषा की संरचना ही काव्यरूप की नियामक है तथा प्रभाव रूप भी नियामक है।

**संरचनावाद - स्वरूप एवं महत्व**

संरचनावाद के जनक सासूर है। सासूर की संरचनावादी अवधारणाएँ कई अर्थों में क्रांतिकारी अवधारणाएँ रहीं। सासूर मानते हैं भाषा एक व्यवस्था (सिस्टिम) है। वह चिह्नों की निर्मिति है। चिह्न तो मनमाने (यादृच्छिक) और भेदपरक होते हैं। एक भाषाई चिह्न में दो तत्व होते हैं।

1. स्वर-बिंब (लिखित बिंब)

2. उसका विचार

पहला तत्व व्यंजक (सिग्नीफायर) है और दूसरा व्यंग (सिग्नीफायड) है।

उदा - पेड शब्द पढ़कर या सुनकर हम एक व्यंजक प्राप्त करते हैं जो तुरंत ही हमारे मन में पेड़ का व्यंग बन जाता है। चिन्ह के ये दो तत्व नियम रहित हैं। इस मनमानेपन के दो कारण हैं।

1. भाषागत परंपरा - पेड़ कहने से बहुत से व्यंजकों का समूह अपने आप हमें व्यंग तक ले आता है। यह है व्यंजक की व्यंग से कार्यकारकता यह भाषिक परंपरा का फल है।

2. व्यंजक व्यंग की पूरकता के भीतर कोई अनिवार्य स्वाभाविकता नहीं होती व्यंजक और उसके मायने (व्यंग) इसलिए मनमाने होते हैं।

शब्द अर्थ की परस्परता का मनमाना अथवा नियम रहित होना ही वह तत्व है जो सासूर ने भाषा विज्ञान और संरचनावाद को दिया। इसने भाषा की दुनिया और यथार्थ की दुनिया के बीच एक अनिवार्य टूट पैदा कर दी। शब्द हमारे अनुभवों का संचार कराते हैं, वे सिर्फ उन्हें बिंबित या अभिव्यक्त मात्र नहीं करते। शब्द अर्थों को तय करते हैं। शब्द उस तमाम अनुभव को रूप देते हैं जो बिना भाषा के नहीं बताया जा सकता। यथार्थ शब्दों को अर्थ नहीं देता। शब्द यथार्थ को अर्थ देते हैं। नियंत्रित करते हैं। इसी प्रकार पेड़ अपने से बाहर की अभिव्यक्ति नहीं बल्कि पेड़ चिह्न के माध्यम से हम पेड़ को झाड़ी, घासपात से अलग कर पातें है। इसिलिए व्यंजक-व्यंग एक दूसरे से अभिन्न है।

यदि यथार्थ और शब्द का संबंध मनमाना है तो हम अर्थ कैसे प्राप्त करते हैं? व्यंजक अर्थ कैसे पैदा करता है? सासूर के अनुसार चिह्न का काम (अर्थ) अन्य चिह्नों के साथ संबंध-याने भेद से निश्चित हम शब्दों को उसके आपसी भेद से समझाते हैं। उनके भेद ही उन्हें अर्थ देते हैं। हम उनके भेदन से अनुभवों के खंड प्राप्त करते हैं वही अर्थ होते हैं।

पेड़ को ऐसे ही सम स्वर पैर, पेड़ा, पैड स्वर से और व्यंग के रूप में हम झाड़ी, झंखाड़ से अलग करते हुए अर्थ प्राप्त करते हैं।

इस अर्थ में भाषा एक व्यवस्था है जिसके हर तत्व की स्थिति उसके संपूर्ण ढाँचे में स्थित होने में है। उदा- अंग्रेजी lion लायन का हिंदी में अर्थ शेर होता है। पर लायन क्लब वाले अपने सदस्य को लायन कहते हैं। ऐसे समय शब्द का संबंध भेदक द्वारा ज्ञात होगा। उसी प्रकार Love का अर्थ हिंदी में प्यार होता है पर रामायण में राजाराम के पुत्र का नाम लव है। यहाँ अर्थभिन्नता दिखाई देगी। एक अहसास है तो दूसरा शब्द (चिह्न) नाम है। संदर्भ बदलने से अर्थ में भिन्नता आ जाती है।

सासूर ने आगे चलकर भाषा व्यवस्था तथा व्यक्तिगत संसार से भेद किया और स्पष्ट किया कि संरचनावाद का काम भाषा व्यवस्था की पड़ताल करना है। भाषा अपना काम कैसे करती है यह देखने की बात है। व्यंजक - व्यंग्य की प्रक्रिया का अध्ययन करके सासूर ने बताया कि इतिहास खोजने वाली पद्धति के निष्कर्ष अलग है और भाषा के काम का अध्ययन करनेवाली पद्धति का अलग निष्कर्ष है।

शब्दार्थ की खोज में आगे चलकर सासूर ने बताया कि हर भाषा का अपना पाठ्यक्रम, शब्दक्रम है। लेकिन हमें अर्थ प्राप्त करने के लिए 'जो नहीं है' उससे जोडकर देखना पडता है यही संदर्भ है।

अन्य भाषा व्यवहार में सर्वनाम, काल का निश्चित संदर्भ होता है। कविता का अर्थ समझने के लिए आसपास की परिस्थिति के संदर्भ जानना आवश्यक नहीं' कविता स्वयं के संदर्भ निर्माण करती है।

संरचनावादियों के अनुसार कविता का अर्थ जानने के लिए उनके रूपांतर करने पड़ते हैं। रूपांतर के आधारपर उपमा, रूपक, आदि अलंकारों का विश्लेषण करते हैं।

सासूर मानते थे कि दुनिया का ज्ञान बहुत जटिल रूपों में, भाषा के भीतर आता है। जटिल होने के कारण

इसके वाहक चिह्न स्वतंत्र होते हैं। यह स्वतंत्रता ही शब्द और अर्थ को अलग करती है। शब्द यथार्थ की न खिड़की है न दर्पण। बल्कि शब्द अपने साथ तमाम व्यंजकों, व्यंगों के लिए आते है। इस तरह हमारा वस्तुज्ञान हमसे एक संहिता से, परंपरा से बँधा होता है।

इसलिए भाषा के बिना ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश संभव नहीं। हमारा यथार्थ इस तरह अनेक भाषाओं के द्वारा अपने भीतर साम्य और वैषम्य से बनता है। विचार और अर्थ की यह परंपरा संरचनावाद का प्रथम बिंदु है।

संरचनावाद काव्यभाषा को उचित महत्व तो देता है साथ ही वह संकेत और संदेश की भी उपेक्षा नहीं करता। ये दोनों ही संरचनावाद में अपना वैषिष्ट्य रखते हैं। (लेवीस्ट्रस के मत)

संरचनावाद मूलतः काव्यशास्त्र को साहित्य का विज्ञान मानता है और यह व्यक्तिगत पाठो को साहित्य की विलक्षणताओं को समझने का विषय बतलाता है। (के एम. न्यूटन के अनुसार)

भाषा सिर्फ एक औजार है, जो पारदर्शी भी है और अलग भी संरचनावाद भाषा विज्ञान से ही पैदा हुआ। वह विशिष्ट विधि है जिसका अंतिम लक्ष्य साहित्य भी भाषा का दूसरा रूप है। संरचनावाद भाषा, साहित्य और अन्यसाहित्यिक विधाओं को विभिन्न स्तरों पर देखने को अपना प्रयोजन मानता है।

संरचना स्थापत्य कला में विभिन्न अंगों की व्यवस्था का नाम है जिसमें हर चीज एक दूसरे से संबद्ध हो जाती है, जिसमें अलग-अलग तत्व एक दूसरे से जुड़ जाते हैं, जिसमें एक निश्चित रूप उभरता है जो अनेक स्तरीय संरचना के लिए 'आदर्श' होता है, अंतिम संरचना होती है। यह अंतिम संरचना जो छोटी से छोटी संरचना में होती है, 'अर्थ' का केंद्र होती है। वह हर चीज को मायने देती है।

**संपूर्णता का विचार, आत्म नियमन का विचार और रूपांतरण** ये 3 विचार संरचनावाद का सार है। हर स्थिति संपूर्ण है, सकल है, वह अपने नियमों से परिचलित है वह लगातार रूपांतरित होती है। रूपांतरण के तत्व ने ही संरचनावाद को संस्कृति के क्षेत्र में प्रवेश करने का अवसर दिया।

संरचनावादी वह प्रयत्न है जो गहनता में उतरकर छिपे तंत्र को, संरचना को देखता है। याने तंत्र के हार्डवेअर की नहीं, सॉफ्टवेअर की पडताल ही संरचनावाद है।

संरचनावादी होने के लिए जरूरी है कि किसी संरचना में 2 चीजें अनिवार्यतः हो।

1. वह रूपात्मक हो - रूपांतरण करनेवाली हो, वह सिर्फ अनुवादि स्थिति न हो।

2. वह अपने सामाजिक समग्र के साथ एक सही स्तर (सतह) पर उपलब्ध हो।

संरचनावाद का अवदान यह है कि इसने समूचे जीवन को भाषा की संरचनाओं में सुख्याख्येय और सुपरिभाषेय सिद्ध किया।

साहित्य में, संरचनावादी सिद्धांत में हम पाते हैं कि लेखक का लोप, रूप की वापसी, विज्ञान सम्मत विश्लेषण क्षमता आदि को संचारवाद ने पूरे शास्त्र का रूप दिया इसलिए संरचनावाद का महत्व अलग है।

संरचनावाद मूलतः भाषा वैज्ञानिक पद्धति है। सासूर के मत से भाषा की विराट संरचना ज्ञान के तमाम

क्षेत्रोंको आदर्श (मॉडेल) थी।

बार्थ के अनुसार - संरचनावाद सिर्फ पद्धति नहीं वह एक कर्म है, व्यवहार है, पाठ का उन्मुक्त व्यवहार है।

साहित्य में कोई भी वाद निर्माण हो सकता है, हो रहा है पर उसकी अपनी सीमा भी तय है। यह वाद एक तरह से जब साँचा बन जाता है तो वह अपने आप कालबाह्य हो जाता है। इसी प्रकार संरचना के बाद उत्तर संरचनावाद आया। उत्तर संरचनावाद की जगह विखंडनवाद ने ली जिसके जनक फ्रांसीसी आलोचक जक दरीदा ये जिन्हें देरिदा नाम से संबोधित किया जाता है।

# आलोचना

**स्वरूप और उद्देश्य**

आलोचना को समालोचना भी कहते हैं। समालोचना शब्द दो शब्दों से बना है -

सम + आलोचना = समालोचना 'सम का अर्थ है सम्यक, संतुलित तथा सांगोपांग और आलोचना का अर्थ है देखना। अतः समालोचना का अर्थ हुआ सम्यक, संतुलित और सांगो पांग दृष्टि से साहित्यिक कृति के गुण-दोषों को परखना। समालोचना के लिए अंग्रेजी भाषा में शब्द criticism प्रयुक्त होता है, उसका भी लगभग अर्थ यही है।

अतः चाहे हम हिंदी में समालोचना को लें और चाहे अंग्रेजी में criticism लें, दोनों का अर्थ एक ही होता है साहित्यिक कृति के गुण-दोषों का निर्णय-कर के उसका मूल्यांकन करना।

'आलोचना' शब्द की कई परिभाषाएँ, विशेष रूप से अंग्रेजी में मिलती हैं। उनका समग्र अध्ययन करें तो यही बात सामने आती है कि आलोचना कैसी हो? अर्थात् आलोचक में विस्तार पूर्ण दृष्टि, संतुलित मस्तिष्क, मन का सूक्ष्म ज्ञान, सहानुभूति और जागरूक तटस्थता आवश्यक है। आलोचना कई कार्य करती हैं - वह कृति का भावन-मात्र करती है, कभी उसकी व्याख्या करती है, कभी कलाकार बन वह अपने या अपने वर्ग के संबंध में नई बातें बताती है कि समाज ने किस प्रकार काल को प्रभावित किया और कलाओं ने - समाज को किस प्रकार परिष्कृत या परिवर्तित किया है। वह समाज में नई विचार धारा प्रवाहित करती है। वह हमेशा चिरंतन सत्य की प्रतिष्ठा में सहायक होती है।

अनेकानेक परिभाषाओं के आधार पर आलोचना के निम्न लिखित कार्य माने जा सकते हैं -

1. रचना का भावन और कृतिकार के उद्देश्य का उद्घाटन।
2. रचना के गुण दोषों का उद्घाटन।

   रचना में निहित सौंदर्य का उद्घाटन।
3. रचना के दोषों का उद्घाटन आवश्यक है, क्योंकि इससे विकृत साहित्य लेखन को प्रोत्साहन नहीं मिलता। विकृत साहित्य निर्मिति पर प्रतिबंध लगता है।
4. रचना के गुण-दोषों के आधार पर उसका मूल्यांकन करना।
5. रचना की व्याख्या करना और अपने मन के द्वारा ग्रहण की गई प्रतिक्रिया का प्रेषण करना।
6. आलोचना पाठक की अंतर्दृष्टि का उन्मीलन करता है जिससे वह अपना पथ स्वयंखोज सके।
7. विवेक के आलोक में जो दिखाई दे, उसका उद्घाटन करना और सत्य के निर्देश में जो निर्णय हो, उसका आख्यान करना।
8. आलोचना करते समय एक को बड़ा और दूसरे को छोटा समझना उचित नहीं है।

साहित्य सृजन हृदय सापेक्ष माना जाता है। साहित्यकार और सहृदय के बिना साहित्य-सृजन क्रमशः असंभव एवं निरर्थक है।

सार्त्र ने कहा है - 'कलाकृति का अस्तित ही तब है, जब कोई उसे देखता है।"

कलाकृति की ओर विभिन्न लोगों के देखने में शिक्षा, वय, मनोदशा आदि के अनुसार भेद हो सकता है। फिर भी कवि अपनी रचना की सार्थकता के लिए समान-धर्मा सहृदय की खोज में व्याकुल हो उठता है। सहृदय को पाकर ही रचना कृतकृत्य हो उठती है। आलोचक कवि की मानसंतति का ऐसा ही अधिकारी भोक्ता सहृदय है।

**आलोचक के गुण**

आलोचक के लिए आवश्यक पहला गुण रसिकता या सहृदयता है। सहृदयता के कारण वह कवि की अनुभूति के रहस्य का दर्शन कर पाता है। रसिकता के अभाव में वह-वह दूसरे रसिक की बातें नहीं समझ सकता।

आलोचक के लिए दूसरा आवश्यक गुण विद्‌वत्ता है। जिस प्रकार कविता के लिए व्युत्पत्ति आवश्यक है, उसी प्रकार वह आलोचक के लिए आवश्यक है। व्युत्पन्न व्यक्ति ही दूसरे की रचना को समझ सकता है।

आलोचक के लिए तीसरा आवश्यक गुण है निःपक्षता। आलोचक को पाठक वर्ग का निधि बनकर, अपने-पराए के भेद को भूलाकर निःपक्षता से किसी रचना की आलोचना करनी चाहिए।

आलोचक के लिए चौथा सहानुभूति शीलता का गुण है। यद्यपि रचना की निः पक्ष आलोचना करते समय रचनाकार की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, किंतु साहित्य क्षेत्र में पदार्पण करने वाले नवोदित साहित्य कारों के प्रति सहानुभूतिशील होकर उन्हें प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है। छिद्रान्वेषक प्रवृत्ति आलोचक के लिए ठीक नहीं कही जा सकती। दोषों को दिखाते समय उसे संयत शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।

आलोचक लिए आवश्यक पाँचवा गुण अभिव्यक्ति का सामर्थ्य है। जिस प्रकार कवि के लिए अभ्यास की आवश्यकता है, उसी प्रकार आलोचक के लिए भी अभ्यास आवश्यक है। अभ्यास से ही उसे अभिव्यक्ति कौशल प्राप्त होता है।

आलोचना में भी साहित्य की तरह प्रेषणीयता का गुण आवश्यक है। अभिव्यक्ति सौंदर्य भी आलोचना के लिए जरूरी है।

उपर्युक्त गुणों पर ही आलोचना के क्षेत्र में आना चाहिए। आलोचना करते समय प्रथम रचना की व्याख्या अपेक्षित है। व्याख्या कर सकने की क्षमता के कारण वह कवि और पाठक के बीच दुभाषिए का मर्मतक पहुँचा दें।

व्याख्या के बाद आलोचक का दूसरा कार्य है मूल्यांकन करना, इसलिए कि मूल्य दृष्टि ही जीवन को सार्थक एवं सुसंस्कृत बनाती है।

**आलोचना के प्रकार**

**आलोचना और अनुसंधान आलोचना** - विभिन्न प्रणालियाँ-सैद्‌धांतिक, व्याख्यात्मक, तुलनात्मक, स्वच्छंदतावादी, मनोवैज्ञानिक एवं प्रगतिवादी आलोचना

आलोचना के प्रथमतः दो भेद किए जा सकते हैं - सैद्धांतिक आलोचना और व्यावहारिक आलोचना -

**सैद्धांतिक आलोचना -** (Theoretical Criticism) इस पद्धति के अंतर्गत साहित्य रचना से संबंधित आधार-भूत सिद्धांतों और नियमों का निर्माण होता है। रीति-ग्रंथ लक्षण ग्रंथ, काव्य शास्त्र (Poetics) आदि इसके अंतर्गत आते हैं। आलोचक अपनी प्रतिमा और प्राचीन प्रसिद्ध-ग्रंथों के आधार पर कतिपय सिद्धांतों का निर्माण करता है और उन्हीं के आधार पर किसी काव्य कृति की आलोचना करता है। पश्चिम में अरस्तू का 'Poetics' या होरेस का 'Art poetica' इसी प्रकार के ग्रंथ हैं। भारत में यह प्रणाली प्राचीन काल से चली आ रही है। अंग्रेजी में कॉलरिज और आई. ए. रिचर्डस् के नाम इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय हैं।

सैद्धांतिक आलोचना तब तक निराधार होती है, जब तक कि उसे व्याख्यात्मक आलोचना का आधार न मिले। व्याख्यात्मक आलोचना ज्ञानक्षेत्र की नवीनतम उपलब्धियों के आधार पर सैद्धांतिक आलोचना के परिष्कार में विश्वास करता है। यह आलोचना प्रणाली मुख्यतः व्याख्यात्मक है। साहित्य-रचना के मौलिक सिद्धांतों, सारभूत-नियमों का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है, उनके बिना-व्यावहारिक समीक्षा एवं मूल्यांकन का कार्य ठिक से नहीं हो पाता। पर आलोचक को चाहिए कि वह इन सिद्धांतों का विवेक पूर्ण व्यवहार करें, केवल सिद्धांतों को मान दंड मानकर साहित्य की नाप-तोल की पट्टियाँ न लगाए, इस से आलोचना जड़ और रूढ़ बन जाती है।

**व्याख्यात्मक आलोचना -** इस प्रणाली को लाने का श्रेय प्रसिद्ध समालोचक डॉ. मोल्टन को है। ये शेक्सपीयर के प्रसिद्ध समालोचक थे। उन्होंने वैज्ञानिक अन्वेषण और व्याख्या विश्लेषण को ही आलोचना का आदर्श माना है। उसके अनुसार जिस प्रकार वैज्ञानिक प्रकृति के नियमों को प्रकृति में ही ढूँढते हैं, उसी प्रकार आलोचक को साहित्य-सृजन के सिद्धांत उपर से न लादकर उसी पुस्तक विशेष से अनुसंधान से प्राप्त करने चाहिए। व्याख्यात्मक आलोचक कृति की अंतरात्मा में प्रवेश कर अत्यंत सहृदयता पूर्वक उसके उद्देश्यों, विशेषताओं का उद्घाटन करता है। इस प्रणाली में सिद्धांत पक्ष गौण होता है और विश्लेषण तथा व्याख्या-प्रधान होती है, इसमें आलोचक का कार्य न्यायाधीश का न होकर अन्वेषक का होता है, न तो वह विभिन्न कृतियों की तुलना कर उन्हें छोटा-बड़ा कहता है और न प्रभाव वादियों की तरह केवल अपने मन पर पड़े प्रभाव को ही प्रधानता देता है। यह आलोचना गतिशील नियमों में विश्वास करती है।

**तुलनात्मक आलोचना -**

ज्ञान के क्षेत्र में स्वरूप निर्धारण और स्तर मूल्यांकन की दृष्टि से तुलनात्मक प्रणाली का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। किन्हीं दो पूर्णतः विजातीय रचनाओं में तुलना करना ठीक नहीं है। सजातीय रचनाओं में तुलना करते समय भी युग, कवित्वशक्ति आदि बातों का सांगो पांग विचार करते हुए की गई तुलना ही ठीक कही जा सकती है।

तुलनात्मक आलोचना में निःपक्ष होकर संयत ढंग से आलोचना करने की आवश्यकता होती है। ज्ञान के क्षेत्र में स्वरूप निर्धारण और स्तर मूल्यांकन के लिए महत्त्वपूर्ण यह आलोचना पद्धति व्यावहारिक आलोचना एक प्रणाली है।

**मनोवैज्ञानिक आलोचना**

मानस शास्त्र के विकास के साथ मानस शास्त्रीय आलोचना का विकास हुआ। फ्रायड ने साहित्य को मानस शास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषित करने का प्रयास किया है। मानस शास्त्रीय आलोचना के प्रभाव स्वरूप ही समालोचना के क्षेत्र में जीवन मूलक आलोचना विकसित हुई है।

साहित्य व्यक्ति के मन की ही अभिव्यक्ति है। व्यक्ति मन को समझे बिना साहित्य को ठीक प्रकार से समझा नहीं जा सकता।

काव्य के प्रभाव की मनोवैज्ञानिक व्याख्याएँ की गई हैं। प्रो. आई. ए. रिचर्डस् ने साहित्यिक मूल्यांकन का जो प्रतिमान निर्धारित किया है कि उत्तम साहित्य विरोधी मानसिक उदवेगों को संतुलित व्यवस्था में एकत्रित कर देता है। यह मनोवैज्ञानिक ही है। दूसरी बात यह कि काव्य के अध्ययन से मनोवैज्ञानिक दृष्टि मिलती है, वह कवि के जीवन और व्यक्तित्व को समझने में सहायक होती है।

इस आलोचना पद्धति में सब से बड़ी कठिनाई यह है कि मन की क्रियाएँ सतत परिवर्तनशील एवं अस्थिर होती हैं, अतः स्वीकृत प्रतिमानों द्वारा उनकी नापतौल कठिन है। फिर मनोवैज्ञानिक समीक्षा में साहित्य की उत्पत्ति प्रभाव और साधनों पर अधिक ध्यान दिया गया है, उसके मूल्यांकन पर कम जो समीक्षा का मुख्य कार्य है।

इस आलोचना पद्धति में एक दोष और है वह है कभी-कभी कृति कर्ता की अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष प्रकार नहीं भी होती, अतः आलोचक भ्रामक निष्कर्ष निकाल सकता है। आत्माभिव्यक्ति परोक्ष है या प्रत्यक्ष यह कहना बड़ा-कठिन होता है। अतः मनोवैज्ञानिक समीक्षा की भूमि खतरे से खाली नहीं है। उस पर समीक्षा को बहुत सावधान रहकर चलना है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मनोवैज्ञानिक आलोचना ने आलोचना को व्यक्तित्व के केंद्रवर्ती तत्व से जोड दिया है। यह व्यक्तित्व पात्र और साहित्यकार का है। इसके अतिरिक्त व्यक्तित्व के आवेगों के दायित्व स्थापन को भी इस आलोचना ने प्रभावित किया है। इनके अतिरिक्त रचनाओं के शिल्प पक्ष को भी इस आलोचना पद्धति ने नए आयामों में विकसित होने में सहायता पहुँचाई है।

## प्रगतिवादी आलोचना

इस प्रणाली का जन्म रूस में मेक्सिम गोर्की द्वारा माना जाता है और इसका आधार समाजवादी यथार्थ है। इसमें समाज की आर्थिक परिस्थितियों और वर्ग संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में कृति का मूल्यांकन-किया जाता है। इसमें साहित्य को सामूहिक कर्म माना जाता है। इसके अनुसार जो कृति मार्क्सवादी सिद्धांत के प्रचार और श्रम जीवियों और सर्वहारा वर्ग के कल्याण में जितनी अधिक उपयोगी है, वह उतनी ही श्रेष्ठ समझी जाती है। इनमें न तो व्यक्तिगत प्रतिमा-स्फुरण को देखा जाता है, न कृति के आंतरिक कला पक्ष को, केवल सामाजिक तत्वों की ही परीक्षा की जाती है। स्पष्ट है कि यह दृष्टि एकांगी है और इससे-कला कृति का समग्र मूल्यांकन और भावन नहीं हो पाता।

## हिंदी-आलोचना की प्रवृत्तियाँ

शुक्लोत्तर हिंदी-आलोचना में आलोचना की विकास रेखा प्रसार पाती है क्योंकि इस युग में आलोचकों ने शुक्ल जी की प्रौढ़ता और परिपक्वता के अभाव में भी अपनी लेखनी चलायी है। आचार्य शुक्ल जिन्होंने

आलोचना को नूतन आयाम देकर नया प्रतिमान स्थापित किया तथा परवर्ती आलोचकों के लिए मार्ग प्रशस्त किया, उनके आलोचना मानदण्ड का कुछ एक आलोचकों ने अनुकरण किया तथा कुछ एक ने बने बनाये मार्ग पर चलने के बजाय स्वयं मार्ग का अन्वेषण किया। अतएव अधिकांशतः शुक्लोत्तर कालीन आलोचकों को शुक्ल-युगीन आलोचकों द्वारा प्रशस्त मार्ग मिला जिस पर वे आगे बढ़ सके। फिर भी शुक्लोत्तर कालीन आलोचकों ने आलोचना का मानदण्ड स्वयं निर्धारित किया और अपने-अपने आलोचना सिद्धांत निर्धारित किए जो उनके मनोनुकूल पड़ता था। इस प्रकार शुक्लोत्तर युग में आलोचना की मुख्य धारा अनेक उपधाराओं में विभाजित होकर प्रवाहित होने लगी जिसके परिणामस्वरूप शुक्लोत्तर हिंदी-आलोचना में अनेक प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। इसका प्रमुख कारण यह है कि शुक्लोत्तर-युगीन आलोचना में 'शुक्ल जी के समकक्ष ऐसा कोई व्यक्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता, जिनकी समन्वयकारिता और प्रभाविष्णुता के आधार पर यह कह दिया जाय कि उसमें युग-संचालन की पूर्ण क्षमता है। इस युग के अधिकांश समालोचक अपनी-अपनी मान्यताओं और जीवन आस्थाओं में संग्रस्त होकर केवल एक-पक्षीय प्रतिमानों से ही साहित्य समीक्षण करते हैं जिसका स्पष्ट आशय यही है कि उनमें युग नेतृत्व की शक्ति की न्यूनता है। फलतः शुक्ल जी के समकालीन धरातल पर प्रसारित होनेवाले तथा अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को लेकर चलनेवाले काव्य-साहित्य ने शुक्ल-युग के प्रतिमानों को अपने लिए अग्राह्य समझा जिसकी प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप हिंदी समालोचना जगत् में व्यष्टि और समष्टि तथा वस्तुपरकता और आत्मपरकता को लेकर एक संघर्ष-सा उपस्थित हो गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल-युग ने अपनी समालोचनागत मान्यताओं में यदि समष्टिपरक वस्तुमुखी विचारधारा को प्रधानता दी थी, तो उसके परवर्ती शुक्लोत्तर युग ने व्यष्टिप्रधान आत्माभिव्यक्ति की मान्यताओं को भी प्रश्रय प्रदान किया। शुक्ल-युग में आलोचना विकासावस्था में आ चुकी थी फिर भी उसकी चरम परिणति शुक्लोत्तर-युग में हुई। नित्यानंद तिवारी ने आलोचना के निबंध 'शुक्लोत्तर आलोचना : एक विश्लेषण' में शुक्लोत्तर आलोचना का विकास दोनों युगों के वैचारिक संघर्ष तथा टकराहट के परिणामस्वरूप स्वीकार्य किया है। इसका मुख्य कारण यह है कि 'छायावादी काव्य की प्रेरणास्वरूप और प्रक्रिया के कई स्तरों पर पं. नंददुलारे वाजपेयी और डॉ. नगेन्द्र ने शुक्ल जी से भिन्नता स्थापित की है। इस भिन्नता के प्रत्यक्ष में शुक्ल जी से उनकी टक्कर लेना अनिवार्य था।

शुक्लोत्तर-आलोचना का विकास टकराहट से हुआ। इस टकराहट का संदर्भ, उद्देश्य और आधार सब कुछ तात्कालिक था। इस तात्कालिकता के आग्रह के कारण परंपरागत शास्त्रीय शब्दावली की अपेक्षा और नवीन अवधारणाओं के प्रति शुक्लोत्तर-आलोचकों का ध्यान गया। नगेन्द्र जी रसों के आधार पर पंत जी के काव्य की विवेचना से उदासीन हैं तो वाजपेयी जी नयी परिस्थितियों के अनुरूप रस के स्वरूप में विकास की माँग करते हैं। इनकी आलोचनाओं में नवीनता, स्वतंत्रता, उन्मुक्तता आदि शब्द बार-बार आते हैं और इनके आधार पर छायावादी काव्य के औचित्य तथा उसकी श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है। स्वप्न, कल्पना, प्रकृति, व्यक्तिवाद और अंतर्मुखता, आध्यात्मिकता का मानवीय संदर्भ आदि ऐसे शब्द हैं जो नयी अवधारणाओं को व्यक्त करते हैं और छायावादी काव्य की आलोचना में ही पहल-पहल इस रूप में यद्यपि जाने नहीं गये तो प्रतिष्ठित अवश्य हुए।"[2]

शुक्ल-युग में पाश्चात्य एवं पोरत्स्य, प्राचीन एवं अर्वाचीन आलोचनात्मक प्रवृत्तियों को शुक्ल-युग जी का व्यक्तित्व समेटे हुए था। शुक्लोत्तर-युग में आलोचना-जगत् में आत्मविश्लेषण का समागत होते ही ऐतिहासिक,

सामाजिक तथा समाजशास्त्रीय आलोचना का प्रादुर्भाव बढ़ने लगा। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद विकासोन्मुख हुआ। साहित्य के मूल्यांकन और आलोचना के मानदंडों के प्रश्न नये सिरे से उठाए गए एवं समसामयिक परिप्रेक्ष्य में उनका समाधान किया गया। पाश्चात्य साहित्य की प्रवृत्तियों पर गंभीर और सहृदयतापूर्वक अध्ययन किया जाने लगा। साहित्य और आलोचना नवीन मूल्यों, नवीन मान्यताओं एवं नवीन परिसीमाओं में अपने को आबद्ध कर रहे हैं। शुक्लोत्तर साहित्यकारों ने इंग्लौण्ड की ओर से ध्यान हटाकर वअरलेन, रेम्बो, मेलार्मे आदि प्रतीकवादी फ्रेंच साहित्यकारों की शुद्ध अनुभूति, कल्पना और विचार की ओर आकृष्ट किया। परिणामस्वरूप हिंदी में विविध वादों का अभ्युदय हुआ।

शुक्लोत्तर-आलोचना में विविध वादों का समावेश हुआ जिसमें स्वच्छन्दतावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद, अस्तित्त्ववाद, मनोविश्लेषणवाद आदि वादों की प्रवृत्तियों ने नवीन आलोचना पद्धतियों को विकसित किया। शुक्लोत्तर-युग वास्तव में हिंदी-आलोचना का समृद्ध युग कहलाने का अधिकारी है क्योंकि यहीं पर शुक्लोत्तर-आलोचना अपना रूप निखारती है तथा पूर्णरूपेण प्रसार पाती है। आज के वैज्ञानिक युग में जनमानस का मस्तिष्क कितना विकसित है तथा जीवन में विभिन्न पहलुओं पर आलोचकों की दिव्य दृष्टि कहाँ तक पहुँच पा रही है - इसका अंदाज विभिन्न आलोचना पद्धतियों से लगाया जा सकता है। वर्तमान जीवनादर्श के अंतर्गत सौष्ठव, विधान संयोजन, प्रगतिशील तथा मनोवैज्ञानिक व्यवस्थाओं का प्रस्फुरण जिस आधारशिला पर हुआ है वह शुक्लोत्तर हिंदी-आलोचना का बीज रूप है।

शुक्लोत्तर-आलोचना में विभिन्न वादों के प्रादुर्भाव के फलस्वरूप नयी प्रवृत्तियों के माध्यम से आलोचना की नवीन पद्धतियों का जन्म हुआ जिसमें सौष्ठववादी एवं स्वच्छन्दतावादी आलोचना, मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणवादी आलोचना, रसवादी या सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना, मार्क्सवादी-प्रगतिवादी या समाजशास्त्रीय आलोचना, अस्तित्ववादी, प्रभाववादी आलोचना, शैलीवैज्ञानिक आलोचना, चरितमूलक आलोचना, ऐतिहासिक व सांस्कृतिक आलोचना तथा शोधपरक एवं अनुसंधानपरक आलोचना आदि पद्धतियाँ हैं। यूरोप की साहित्यिक धारा स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति शुक्लोत्तर-आलोचना में विद्रोह की प्रवृत्ति, कृत्रिमता से स्वतंत्र्य होने की प्रवृत्ति, मध्य युग का प्रत्यावर्तन की प्रवृत्ति, कल्पनाशीलता की प्रवृत्ति, वैयक्तिकता की प्रवृत्ति, सौंदर्यनिरूपण की प्रवृत्ति, अवसाद एवं पलायन की प्रवृत्ति, विविध वैचित्र्य की प्रवृत्ति आदि का उन्नयन स्वच्छन्दतावादी एवं सौष्ठववादी आलोचना पद्धति में दृष्टिगोचर होता है। इस युग की आलोचना को रूढ़िगत परंपराओं से स्वतंत्र करके आलोचकों ने सौंदर्य विधायक प्रतिमान से सुशोभित करने का प्रयत्न किया जिसे हम सौष्ठववादी या सौंदर्यवादी विधान कह सकते हैं। आलोच्य कृतियों की प्रवृत्तियों के बदलाव के साथ आलोचना की प्रवृत्तियाँ भी बदला करती हैं।

शुक्ल-युग से ही आलोचना के दृष्टिकोण में यह बदलाव परिलक्षित होने लगा। आचार्य शुक्ल आदर्शवादी और परंपरा के पुजारी होने के कारण पाश्चात्य प्रवृत्तियों को खुलकर अपना न सके किंतु उनके परवर्ती आलोचकों में तो पाश्चात्य प्रवृत्तियों को ग्रहण करने में एक होड़-सी लग गयी। पाश्चात्यवादों की प्रवृत्तियाँ ही रूप बदलकर भारतीय साहित्य में आयीं और उन प्रवृत्तियों ने हिंदी साहित्य, मराठी साहित्य तथा बंगला साहित्य में एकाधिकार जमा लिया। हिंदी साहित्य में वे प्रवृत्तियाँ छायावाद, प्रयोगवाद और नयी कविता की विशेषताएँ बनकर सामने आयीं। ये प्रवृत्तियाँ शुक्लोत्तर-आलोचना में पद्धतियों को विकसित करने में सहायक सिद्ध होती हैं। अतः शुक्लोत्तर हिंदी-आलोचना की प्रवृत्तियों को आलोचना पद्धतियों के माध्यम से विवेचित एवं विश्लेषित

करने का हम यहाँ प्रयास करेंगे।

**सौष्ठववादी एवं स्वच्छंदतावदी आलोचना**

छायावाद के अभ्युदय के साथ ही आलोचना के क्षेत्र में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ उभरने लगी थीं जिसका विवेचन छायावादी कवियों ने अपनी भूमिकाओं तथा निबंधों के माध्यम से आलोचना-जगत् को दिया। शुक्लोत्तर-आलोचना पद्धतियों में सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी आलोचना नूतन जीवनादर्श से ओतप्रोत छायावाद के गर्भ से पैदा हुई, जो सौष्ठव तथा स्वच्छंदता के मानदंड का अवलंबन लेकर विशुद्ध काव्यानुभूति की निकष पर काव्य की आत्मा परखती-निरखती है। छायावादी काव्य तथा सौष्ठववादी एवं स्वच्छंदतावादी आलोचना में "आचार्य शुक्ल के स्थूल सामाजिक दृष्टिकोण का परित्याग कर, सौष्ठव अथवा सौंदर्य को काव्य के मूल्यांकन की कसौटी मानकर आलोचना अपने स्वतंत्र सैद्धांतिक अस्तित्व को स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है।"[5] छायावादी कवि आलोचकों ने छायावादी काव्य मूल्यांकन करने के लिए सौष्ठववादी एवं स्वच्छंदतावादी आलोचना पद्धति को विकसित किया तथा काव्य मूल्यांकन का मापक माना जिसके मूल में वैयक्तिक जीवनादर्श तथा सौंदर्यपरक नूतन जीवनदृष्टि विराजमान है। "आधुनिक हिंदी कविता में युगान्तकारी परिवर्तन कर देनेवाला छायावाद भी अपने साथ नूतन जीवनदर्शन, समीक्षा की नवीन पद्धति और नवीन मान लेकर आया है। स्वच्छंदता और सौष्ठव इस काल की कविता तथा समीक्षा दोनों की मूल प्रेरणा है।"[6]

हिंदी साहित्य में यूरोपीय स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति तथा आलोचना पद्धति का सर्वप्रथम प्रतिपादन मुकुटधर पाण्डेय ने किया तथा उनके बाद छायावादी कवि आलोचकों में प्रसाद, पंत, निराला एवं महादेवी ने महत्तवपूर्ण भूमिका अदा की। शुक्लोत्तर-आलोचना की सौष्ठववादी एवं स्वच्छंदतावादी महत्त्वपूर्ण धारा मुख्य रूप से "शुक्लोत्तर साहित्य को ही अपना उपजीव्य बनाया और उसी को अपना प्रेरणास्रोत मानती रही है। इसके अंतर्गत शास्त्रीय नियमों से स्वतंत्र कलाकृति की आलोचना और उन्हीं से अन्वेषित नए प्रतिमानों के आधार पर कलाकृति का मूल्यांकन किया जाता है। इस पद्धति में छायावादी कविता की स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति मूल प्रेरणा के रूप में कार्य करती रही है।"[7] इसी प्रकार यह स्वतः सिद्ध होता है कि "यूरोपीय रोमांसवाद ने आधुनिक हिंदी-आलोचना को अत्यधिक प्रभावित किया है। आधुनिक काल से पूर्व हिंदी साहित्य और आलोचना दोनों में शास्त्रीयता का ही निर्वाह हो रहा था। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक था कि हिंदी वांङ्मय शास्त्रीयता के पाश से मुक्ति की कामना करता। रोमांसवादी आलोचना का प्रादुर्भाव और विकास ऐसी ही परिस्थिति में हुआ। जिस विद्रोह का प्रारंभ भारतेंदु युग के कतिपय साहित्यकारों ने किया था उसकी परिणति छायावादी कवि-आलोचकों की रचनाओं में हुई। हिंदी साहित्य और आलोचना ने अपनी हथकड़ियाँ तोड़कर नये और प्रशस्त मार्ग का अनुसरण किया। कहना न होगा कि इस विद्रोह की प्रेरणा का स्रोत यूरोपीय रोमांसवाद ही था।"[8]

यूरोपीय स्वच्छंदतावादी काव्य-प्रवृत्ति हिंदी साहित्य में सर्वप्रथम काव्य में प्रयुक्त हुई तत्पश्चात् आलोचना में जिसका शीर्षफल सौष्ठववादी एवं स्वच्छंदतावादी आलोचना पद्धति में दृष्टिगोचर होता है। स्वच्छंदतावादी आलोचना छायावाद की अनुभूति की प्रधानता, अतिशय कल्पनाशीलता, नवीन सौंदर्यबोध, नूतन अभिव्यक्तिकरण आदि तत्त्वों का आकलन प्रस्तुत करती है जो उसकी मूल प्रवृत्ति रही है। सौष्ठव विधान जो छायावादी काव्य में सौंदर्यबोध को परिभाषित करता है, विभिन्न स्तरों के कारण आलोचना के प्रतिमानों को भी बदल डालता है तथा नवीन मानदण्ड स्थापित करता है। सूक्ष्म एवं भाव सौंदर्यनुभूति की अभिव्यक्ति ने सौष्ठववादी आलोचना को

एक नवीन दिशा एवं गति प्रदान की है।

छायावाद के गर्भ से स्वच्छंदतावाद का जन्म हुआ जो यूरोपीय रोमांसवाद से प्रभावित था। छायावादी काव्य में वैयक्तिक स्वातंत्र्य की भावना ही स्वच्छंदता का स्वर ध्वनित करती है। इस युग में काव्य की स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ आलोचना में भी दृष्टिगोचर होने लगीं। इस आलोचना पद्धति में स्वच्छंद अनुभूति का अभिव्यक्तिकरण सन्निहित होता है। कृति स्वयं काव्य-मूल्यांकन का नया प्रतिमान देती है। भावना के क्षेत्र में अनुभूति तथा भाव-सौष्ठव के क्षेत्र में अभिव्यक्ति ही स्वच्छंदता एवं सौष्ठववादी आलोचना के आधारस्तंभ हैं। यह आलोचना सौंदर्य एवं सौष्ठव को भी साहित्य-निकष स्वीकारती है। बंधनों से मुक्ति का स्वर ध्वनित करती है। रूढ़ियों से विद्रोही स्वर में स्वतंत्रता तथा उन्मुक्तता की आकांक्षी है। मूल्यांकन विशुद्ध आत्मानुभूति पर आधारित होता है। हिंदी-आलोचना में श्री मुकुधर पांडेय ने स्वच्छंदतावाद का श्रीगणेश किया। तत्पश्चात् छायावादी कवियों ने और इसके बाद आचार्य वाजपेयी, कुछ सीमा तक डॉ. नगेंद्र तथा शांतिप्रिय द्विवेदी के त्रिक से स्वच्छंदतावादी आलोचना पुष्पित एवं पल्लवित हुई। आध्यात्मिकता, रहस्यवादिता, कल्पनाशीलता, वैयक्तिकता, सौंदर्योपासना, आत्माभिव्यक्ति, आत्मानुभूति, नूतन, जीवनदृष्टि, नवीनता का आग्रह, पुरातन का विरोध, अतीत से लगाव, वर्तमान से विच्छेद आदि प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में स्वच्छंदतावादी आलोचना पद्धति विकसित हुई।

डॉ. नगेंद्र ने भारतीय भाषाओं में स्वच्छंदतावादी चिंतन के विकास को रेखांकित करते हुए प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी के योगदान को सराहा है। स्वच्छंदतावादी समीक्षा की दृढ़ भूमिका तैयार करनेवाले आलोचकों में स्वयं का नाम भी उन्होंने लिया है। "हिंदी में नंददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ. नगेंद्र आदि ने इस प्रवृत्ति का विकास किया। स्वच्छंदतावादी चिंतन का कालांतर में कलावाद या सौंदर्यवाद की ओर मुड़ जाना स्वाभाविक ही था और भारतीय समीक्षा में कला के लिए कला सिद्धांत की अनुगूँज सुनायी देने लगी। स्वच्छंदतावादी समीक्षक भी सौंदर्य को कला या साहित्य का चरम मूल्य मानते थे, परंतु उन्होंने रागात्मक जीवन के भीतर ही उसकी कल्पना की।"[9]

डॉ. भगवत्स्वरूप मिश्र ने सौष्ठव एवं स्वच्छंदतावादी समीक्षा के अंतर्गत डॉ. नगेंद्र की आलोचना का विवेचन किया है। उनके शब्दों में, "नगेंद्र जी की समीक्षा पद्धति शुक्ल समीक्षा का वह विकास है जिसने छायावादी काव्य-चेतना को आत्मसात करके सौष्ठववादी, मनौवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणात्मक तत्त्वों को भी समाहार कर लिया है। नगेंद्र जी में शुक्ल जी की-सी प्रतिभा, गहरी पैठ और रस ग्राहकता तो नहीं है पर उसके साथ नैतिक आग्रह भी नहीं है। इसी से वे काव्य की स्वच्छंदतावादी चेतना को अपना सके हैं।"[10] इस प्रकार शुक्लोत्तर-आलोचना की यह पद्धति काव्यधारा की समानान्तर आलोचना पद्धति है। इसमें आलोचक तटस्थापूर्वक स्वच्छंद अनुभूतियों के माध्यम से साहित्य मूल्यांकन करता है। डॉ. नगेंद्र की प्रथम प्रकाशित आलोचना कृति 'सुमित्रानंदन पंत' इस पद्धति की अमूल्य निधि है। इसके अतिरिक्त साकेत : एक अध्ययन, आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, देव और उनकी कविता, नयी समीक्षा : नये संदर्भ आदि कृतियाँ भी डॉ. नागेंद्र की स्वच्छंदतावादी पद्धति को प्रकाशित करती हैं।

हिंदी-आलोचना में पिछले पाँच दशक में जिन आलोचकों की लेखनी ने स्वच्छंदतावादी आलोचना-पद्धति को समृद्ध एवं शक्तिशाली बनाने में अहम् भूमिका निभायी है, उनमें आचार्य वाजपेयी, आचार्य शुक्ल, आ चार्य

नगेंद्र, लक्ष्मीकांत वर्मा, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश, जगदीश गुप्त, नागेश्वरलाल, विजयदेव नारायण साही, विश्वंभर मानव, रघुवीर सहाय, गंगाप्रसाद विमल, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, देवीशंकर अवस्थी, रामचंद्र तिवारी, डॉ. रामदरश मिश्र, अजितकुमार, डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। यह पद्धति आज भी पूरी शक्ति से हिंदी-आलोचना के भंडार को भरने के लिए प्रयत्नशील एवं सक्रिय है। कुछ आलोचकों पर एकांगी होने तथा वाद साहित्य से जुड़े होने का आरोप अवश्य है फिर भी साहित्य संरचना में उनके मूल्यवान साहित्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

शुक्लोत्तर-आलोचकों में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति प्रारंभ से ही परलिक्षित होती है लेकिन उसका परिष्कृत एवं प्रौढ़ स्वरूप राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन के बदलाव के परिणामस्वरूप निखार पा सका है। "छायावाद ने अपनी अंतर्मुखी प्रवृत्ति के द्वारा रूढ़िग्रस्त शास्त्रीयता को एक कोने में धकेल कर अपना डिंडिमनाद करना आरंभ किया और उसकी स्थिति सुदृढ़ बनती गयी। कहना होगा, इस युग की रचनात्मक प्रवृत्तियों के साथ-साथ समालोचनात्मक मान्यताओं में ऐसे भाव स्फुलिंग प्रोद्भासित हो उठे थे, जिनमें आध्यात्मिकता, काव्य सौष्ठव, स्वच्छंदतावादिता और सौंदर्यभावना की व्यापकता और प्रौढ़ी थी।"[11] शुक्लोत्तर-आलोचना के प्रतिमानों में नवीनता और व्यापकता का आविर्भाव रचनात्मक और विचारात्मक प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप हुआ है। आलोचना में प्रेमगीतों तथा जीवन की मूल प्रवृत्तियों का मार्मिक चित्रण शुक्लोत्तर-आलोचकों की बहुत बड़ी देन कही जा सकती है।

छायावादी युग में आलोचना के प्रतिमान स्वच्छंदतावादी ही प्रयुक्त हुए हैं जो पाश्चात्य की अपेक्षा भारतीय जीवन के सन्निकट है। शुक्लोत्तर-आलोचना में कल्पना, स्वच्छंदता, भावुकता, आत्माभिव्यक्ति, आत्मानुभूति, अभिनव जीवन दर्शन तथा नवीन मूल्यांकन की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है जिसमें सांस्कृतिक वातावरण तथा गांधी-दर्शन का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस प्रवृत्ति के अतिरिक्त छायावादी काव्य समीक्षा में इस युग में अन्य प्रवृत्तियों की ओर अन्मुख होने की अभिवृत्ति भी देखी गई है। "आधुनिक साहित्य की अन्य प्रवृत्तियों की ओर भी इनका ध्यान गया है और वे उनके सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों के विवेचन की ओर भी उन्मुख हुए हैं। काव्य की गीति तथा मुक्तक प्रवृत्ति की ओर इनकी विशेष रुझान है।"[12] यही कारण है कि छायावादी काव्य प्रवृत्ति और आलोचनादृष्टि के विरुद्ध चलने वाली आलोचना ने छायावाद में वैयक्तिक चेतना की प्रवृत्ति को रेखांकित किया है। छायावादी कवि आलोचक मूलतः स्वच्छंदतावादी होने के कारण उसका मूल उद्देश्य सौंदर्यसृष्टि होता है और आनंद से सीधा संबंध जोड़ने का आकांक्षी होता है। सत्य उसके लिए सुंदर और शिव में निहित है। सौंदर्य की उपासना उसकी कला-मूल-मंत्र है।

छायावादी काव्य में सौंदर्यबोध भिन्न-भिन्न स्तरों पर विभिन्नता लिए हुए था, यही कारण है कि आलोचना के मान भी उसी अनुरूप स्वतः बदलते रहे हैं सौष्ठववादी आलोचना को आगे बढ़ाने में सूक्ष्म एवं भाव सौंदर्य की अभिव्यक्ति ने भरपूर योगदान दिया। इसीलिए आलोचना के वैयक्तिक स्वरूप में अनुभूति और अभिव्यक्ति वैयक्तिक स्वतंत्रता के साथ जड़ जमाये हुए प्रतीत होती है। "स्वच्छंदतावादी समीक्षा का आधार छायावादी कविता ही है। स्वच्छंदतावादी समीक्षा ने एक ओर तो छायावादी काव्य के उपयुक्त नवीन रूप और चेतना की पहचान की, दूसरे उस रूप और चेतना के आधार पर साहित्यलोचन का एक नया प्रतिमान खोजा।"[13] शुक्लोत्तर-आलोचना की यह पद्धति काव्यधारा की समानान्तर आलोचना-पद्धति है, जिसको एक ओर से स्वच्छंदतावादी आलोचक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी तथा कुछ सीमा तक डॉ. नगेंद्र और दूसरी छोर से छायावादी कवि-आलोचक

प्रसाद, पंत, निराला तथा महादेवी वर्मा आदि अपनी आलोचनात्मक काव्य भूमिकाओं द्वारा पुष्ट करते हुए आगे बढ़े हैं। इनके अतिरिक्त इस पद्धति के आलोचकों में डॉ. हजारी द्विवेदी, शांतिप्रिय द्विवेदी, रामधारीसिंह दिनकर, डॉ. देवराज आदि मुख्य हैं। "निश्चित प्रतिमानों के प्रकाश में आलोचना और मूल्यांकन करनेवाली पद्धति के अतिरिक्त हिंदी के वर्तमान समीक्षा क्षेत्र में सौष्ठववादी समीक्षा का भी प्रचलन बढ़ा। इस प्रकार की समीक्षा पद्धति में आलोचक मूल्यांकन करने का प्रयोस नहीं करता। सौष्ठववादी आलोचक तटस्थ होकर अपनी स्वच्छंद अनुभूतियों को समालोचना क्षेत्र में उतारने का प्रयास करता है। इसीलिए इस आलोचना पद्धति को स्वच्छंदतावादी समालोचना पद्धति भी कहते हैं।"[14] छायावादी काव्य के तत्त्व प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से इस आलोचना पद्धति पर अपना प्रभुत्व जमाये हुए हैं। अंग्रेजी के रोमांटिक पोयट्री तथा रोमांटिक क्रिटिसिज्म के प्रभाव को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। यह सर्वमान्य तथ्य है कि सौष्ठववादी आलोचना ने पाश्चात्य साहित्य से प्रेरणा ग्रहण कर भारतीय परिप्रेक्ष्य में उसे सँवारा है। "स्वच्छंदतावादी समीक्षा को पाश्चात्य रोमांटिक समीक्षा का भारतीय संस्करण कहा जा सकता है।"[15] छायावादी कवि आलोचकों तथा आलोचकों ने छायावाद को विभिन्न रूपों और स्वरूपों में देखने का प्रयास किया है।

कवि आलोचकों में सर्वप्रथम प्रसाद जी शोधपरक और विचार-प्रधान आलोचना सौष्ठववादी पुट लिए हुए अपनी कृति 'काव्य और कला तथा निबंध' में प्रस्तुत करते हैं : 'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय-रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प से आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन क्रिया जो वाङ्गमय रूप में अभिव्यक्ति होती है, वह निस्संदेह प्राणमयी और सत्य के अभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।"[16] वे रहस्यवाद को विशुद्ध भारतीय करार देते हुए उसे अहम् और इदम् के सामंजस्य पर आधृत अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य स्वीकारते हैं। उनके अनुसार काव्य और कला में मौलिक विभेद है। वह आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति को ही भारतीय काव्य का बीजमंत्र तथा मूलाधार मानते हैं। काव्य में मूर्त और अमूर्त, सूक्ष्म और स्थूल दो न होकर एक ही है, "सीधी बात तो यह है कि सौंदर्यबोध बिना रूप के नहीं हो सकता। सौंदर्य की अनुभूति के साथ-साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिए उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य हैं, इसलिए अमूर्त सौंदर्यबोध कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।"[17] रस के संबंध में उनका दृष्टिकोण आनंदमय तथा ब्रह्मानंद सहोदर से है जो नाटकों में सर्वप्रथम प्रविष्ट हुआ। उनका आनंदवाद लोकजीवन के प्रति अटूट आस्था एवं विश्वास बनाये रखने का संदेश अदा करता है। इस प्रकार प्रसाद जी ने काव्य, कला, रहस्यवाद, छायावाद, यथार्थवाद, रसवाद, आनंदवाद आदि विचार-बिंदुओं पर सैद्धांतिक पद्धति के माध्यम से सिद्धांत स्थापित किये हैं जो आलोचना साहित्य के मानदंड निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करते हैं। काव्य और अध्यात्म को समकक्ष निर्दिष्ट कर प्रसाद जी ने आनंद और विवेकी दृष्टिकोण से आलोचना का नया प्रतिमान निर्धारित किया है, वह शुक्लोत्तर-आलोचना साहित्य में अप्रतिम है। उनके बारे में प्रस्तुत प्रकरण आचार्य वाजपेयी की ये पंक्तियाँ सहसा याद दिलाती हैं, "शास्त्रीय वस्तु को ही उन्होंने इतिहास और मानव मनोविज्ञान के दोहरे छन्नों में छानकर संग्रह किया है। इस छनी हुई वस्तु को अशुद्ध या अप्रमाणिक कहने के लिए साहस चाहिए।"[18]

छायावादी कवि-आलोचकों में पंत जी दूसरे प्रमुख आलोचक हैं, जिन्होंने अपनी पुस्तकों की प्रस्तावना,

भूमिका तथा फुटकर निबंधों में आलोचना-प्रज्ञा का परिचय दिया है। पंत जी का 'प्रवेश' मुख्य रूप से काव्य के बहिरंग पक्ष की आलोचना प्रस्तुत करता है। यद्यपि उसमें शास्त्रीय एवं गंभीर आलोचनाकृति का पूर्णतया अभाव खटकता है, फिर स्वच्छंद विचार प्रवाह और उर्वर मेधा शक्ति का द्योतक है। "ऐसा प्रतीत होता है कि पंत जी का भाव प्रवण कवि रसग्राही समालोचक की बानगी धारण कर समीक्षण में एक प्रकार की चित्रमयता-सी उपस्थित करने में यथेष्ट समर्थ है। समीक्षक की यह पद्धति प्रभावाभिव्यंजक और सुरुचिपूर्ण संस्थान के निकट है। इस विवेचन के द्वारा कवि का स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण प्रकट होता है।"[19] इस प्रकार पंत जी आधुनिक हिंदी समीक्षा में एक सौष्ठववादी आलोचक के रूप में वर्तमान युग की मुख्य प्रवृत्तियों को दृष्टिगत करते हुए आलोचनात्मक टिप्पणियाँ लिखी हैं। 'कला का प्रयोजन', 'स्वान्तः सुखाय या बहुजन हिताय', 'आधुनिक काव्य प्रेरणा के स्रोत', 'यदि मैं कामायनी लिखता' आदि विषयों पर स्वतंत्र चिंतन से पंत जी ने आलोचनाएँ की हैं। 'पल्लव की भूमिका' में पंत जी ने कविता को प्राणों की संगीत कहकर पुकारा है।

'निराला' जी की आलोचनाएं शुक्लोत्तर-युगीन आलोचना में क्रांतिकारी रूप में प्रकट हुई हैं जो एक सैद्धांतिक पक्ष पर आधारित हैं। वे विषय के अनुरूप भाषा पर बल देते हैं। उनकी आलोचनाएँ व्याख्यात्मक तथा तर्क प्रणाली पर आधृत है। उन्होंने 'पल्लव' पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए और पंत जी को 'चोर कवि' तक कह दिया है। 'काव्य के रूप और अरूप', 'शून्य और शक्ति' तथा 'साहित्य का फल अपने वृंत पर' आदि निबंध निराला जी के दार्शनिक पक्ष को उजागर करते हैं। उनकी 'रवींद्र कविता-कानन' मैलिक आलोचना को प्रस्तुत करती हुई एक विशेष अभाव की पूर्ति करती है। उनके कला-विषयक प्रतिमान उनकी क्रांतिकारी मानसिक प्रज्ञा को आलोकित करते हैं। छायावादी आलोचना का प्रतिमान स्वच्छंदतावादी सौंदर्यमयी वृत्तियों से प्रतिबिंबित था, जो निराला जी की आलोचनाओं में प्रतिध्वनित हो रहा था। निराला जी ने मुक्त छंद और मात्रिक छंद के विभेदों का हिंदी में पहले-पहल सम्यक आलोचनात्मक विवेचना प्रस्तुत की। यह स्थापना उनकी हिंदी साहित्य के लिए मौलिक देन सिद्ध हुई।

महादेवी वर्मा छायावादी कवि आलोचकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इनकी आलोचनायें अलंकारिक तथा चित्रात्मक शैली से परिपूर्ण हैं। उनके मतानुसार "व्यष्टि और समष्टि के द्वंद्वात्मक भाव के साथ यथार्थ और आदर्श का सामंजस्य भी कला के क्षेत्रांतर्गत आता है। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'आस्था और मानवसौंदर्य की कवयित्री' निबंध में स्वीकार किया है कि 'कवि का कर्तव्य है, सौंदर्य या सामंजस्य की स्थिति उत्पन्न करना'। महादेवी काव्य इसी जीवन दर्शन से रचा गया है।"[20]

डॉ. नगेंद्र ने 'दीपशिखा की भूमिका' निबंध में स्वीकार किया है कि "सौंदर्य वस्तुतः विकास के लिए अपेक्षित जीवन के प्रत्येक स्पर्श का पर्याय है। उसके भीतर बहिर्जगत और अंतर्गत दोनों का वैविध्य समंजित है। काव्य के क्षेत्र में नैतिकता उन मूल्यों का नाम है जो जीवन के सामंजस्य पूर्व विकास में सहायक होते हैं और चूँकि सामंजस्य ही सौंदर्य का भी आधार तत्व है, इसलिए नीतिगत मूल्यों में और सौंदर्यगत मूल्यों में कोई तात्त्विक भेद नहीं रह जाता है।" इनकी आलोचना प्रणाली व्याख्यात्मकता और ऐतिहासिकता के समन्वय पर आधृत है। "महादेवी जी का साहित्य प्रतिमान जीवन की चिरंजन और सनातन भावनाओं के अधिक निकट है। अतः उन्होंने 'साधारणीकरण' तथा 'मधुमती भूमिका' के आधार पर विश्व-कलाकारों की एक वर्गहीन श्रेणी मानी है जिसकी

सत्ता तात्विक दृष्टि से अखंड है।"[21] रसवादी आलोचक डॉ. नगेंद्र का अभिमत है कि "उन्होंने (महादेवी जी) छायावाद को पढ़ा नहीं है, अनुभव किया है। अतएव साहित्य का विद्यार्थी उनकी विवेचना का आप्त वचन के समान ही आदर करेगा।"[22] महादेवी जी जड़ और चेतन का संबंध अटूट मानती हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक कलाकार की अनुभूति प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सत्य पर भी आधारित होती है।

छायावादी कवि-आलोचकों के द्वारा हिंदी की सौष्ठववादी आलोचना का निरंतर विकास हुआ। 'पल्लव की भूमिका', 'इंदु', 'यथार्थ और छायावाद', 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' की भूमिका आदि निबंध तथा आलोचनात्मक टिप्पणियाँ छायावादी कवि-आलोचकों की आलोचनाओं के स्वरूप व प्रतिमानों की पूर्णरूपेण व्याख्या करती हैं तथा आधुनिक हिंदी-आलोचना में ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य करती हैं। इन आलोचनाओं से छायावादी कवियों का आलोचक रूप निखर कर पाठक के समक्ष दृष्टिगोचर होता है। छायावादी कवि-आलोचकों की ये आलोचनाओं का महत्तव इसलिए है कि ये उनके साहित्य-सृजन की उपज है। इनका विशेष महत्त्व उनके मौलिक चिंतन तथा संकेतों में है। इन आलोचकों ने विशुद्ध आलोचकों को साहित्य सृजन के साथ-साथ जन्म दिया जिसमें आचार्य वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी, डॉ. नगेंद्र आदि मुख्य हैं। मार्क्सवादी आलोचक डॉ. नामवरसिंह ने छायावादी आलोचना को सांस्कृतिक चेतना का एक अंग स्वीकार करते हैं, "वस्तुतः छायावाद की मूल स्वच्छंद भावना जगत के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण था, जो केवल कविता में ही नहीं बल्कि उस युग के उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना आदि सभी साहित्य-रूपों में अभिव्यक्त हुआ। इसलिए छायावादी समीक्षा छायावादी सांस्कृतिक चेतना का ही एक अंग है और छायावादी कविता में अंगांगि भाव से जुड़ी हुई है।"[23] अतः कवि-आलोचकों के विशेष दृष्टिकोण ओझल हो सकता था, लेकिन उससे प्रस्तूत आलोचना ने नया मान और प्रतिमान निर्धारण कर निस्संदेह ही भावी आलोचकों के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी सौष्ठववादी आलोचना पद्धति के मुख्य प्रतिनिधि तथा तलस्पर्शी आलोचक के रूप में सर्वप्रथम शुक्लोतर पद्धति के मुख्य में अवतीर्ण हुए। उनकी आलोचना में निगमात्मक तथा इंगित शैली की गंगा-यमुना धारा प्रवाहित होती है। उन्होंने भारतीय अलंकार-शास्त्र और पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र के मुख्य सिद्धांतों का अनुशीलन कर समन्वयवादी दृष्टिकोण से शुक्लोतर-आलोचना को नया आयाम दिया है। सौष्ठववादी-आलोचना पद्धति रस-सिद्धांत के स्वरूप को लेकर ही हिंदी-आलोचना-जगत् में अवतीर्ण हुई है, न कि विशुद्ध पाश्चात्य स्वच्छंदतावादी पद्धति से। यही कारण है कि वे रस के सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों स्वरूप को स्वीकार किये हैं। उन्होंने रस-सिद्धांत को प्राचीन रूढ़ियों से पूरी तरह विमुक्त कर विशद व्याख्या करते हुए उदात्त भावभूमि पर प्रतिष्ठित करने का भरसक यत्न किया।

इस की महत्ता को काव्य-प्रयोजन तथा काव्यात्मा के रूप में मान्यता देते हुए भी उसे ब्रह्मानंद सहोदर और अलौकिक स्वरूप को मान्यता प्रदान नहीं की। वाजपेयी जी के प्रमुख आलोचनात्मक ग्रंथों में 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'महाकवि सूरदास', 'आधुनिक साहित्य', 'जयशंकर प्रसाद' कवि निराला, कवि सुमित्रानंदन पंत, नया साहित्य : नये प्रश्न, नयी कविता आदि सौष्ठववादी-आलोचना का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्होंने सूरदास की कला की मूल संवेदना, सौंदर्य की नूतन अभिव्यक्ति तथा आनंददायिनी प्रतिभा का सांगोपांग निरूपण कर नया प्रतिमान स्थापित किया है। यहाँ पर वाजपेयी जी पूर्ववर्ती सूर-आलोचकों से कहीं आगे बढ़कर अपना सौष्ठववादी दृष्टिकोण उजागर करते प्रतीत हुए हैं। "वाजपेयी जी सौष्ठववादी समीक्षक हैं और उनकी सबसे बड़ी

विशेषता यह है कि कवि के भावों की असीमता और अनंतता का सूक्ष्म दर्शन कर लेते हैं। वे कवि की भावभूमि की व्यापकता, उसकी अनुभूति की गहनता, सौंदर्यबोध की असीमता और काव्य में ध्वनित विराटत्व की भावना के साथ समरस होकर पाठक को भी उसी भावभूमि पर ले चलते हैं।"[24] हिंदी-आलोचना में सौंदर्यवादी या सौष्ठववादी पद्धति को व्यवस्थित रूप देनेवाले आलोचकों में वाजपेयी जी अग्रणी है।" डॉ. भगवत्स्वरूप मिश्र के मतानुसार वाजपेयी जी में हिंदी-समीक्षा की सौष्ठववादी धारा की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है।

हिंदी के सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति में स्वच्छंदता एवं सौष्ठव-दोनों की दृष्टियों का पूर्ण समन्वय है। समीक्षक अनुभूति, अभिव्यक्ति तथा उसके मूल में रहनेवाली ध्वनि के समन्वित सौंदर्य का साक्षात्कार करता है। डॉ. वेंकट शर्मा के शब्दों में शुक्लोत्तर युग की प्रसारकालीन समालोचना के सैद्धांतिक और व्यावहारिक विकास को सौंदर्यमूलक स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण से परिपुष्ट बनानेवाले समालोचकों की श्रेणी में वाजपेयी जी का स्थान सदैव गण्यमान रहेगा। इस प्रकार वाजपेयी जी ने आलोचना में सौष्ठववादी या स्वच्छंदतावादी पद्धति को विकासोन्मुख बनाकर उसमें भारतीय रस-सिद्धांत तथा पाश्चात्य स्वच्छंदतावादी तत्त्व समाहित किया। आचार्य शुक्ल के बाद साहित्य के मानों को स्थायीत्व प्रदान करनेवाले तथा उनके प्रारंभिक निबंधों के तारतम्य में अपने प्रतिमानों को निर्धारित करने वाले एकमात्र आलोचक आचार्य वाजपेयी हैं। वे रस-सिद्धांत की महत्ता को स्वीकारते हुए भी ब्रह्मानंद मसहोदर में विश्वास नहीं रखते। मानवीयता और आध्यात्मिकता के समावेश के कारण छायावाद को वे बहुत पसंद करते थे। उन्होंने आलोचनाकृति में कवि की मौलिकता, शक्तिमान और सृजन की लघुता-विशालता का अध्ययन, रीतियों, शैलियों, समय और समाज, दार्शनिक, सामाजिक और राजनैतिक विचारों का अध्ययन अपेक्षित माना है। "यही कारण है कि इस वर्ग के सर्वाधिक चर्चित और शुक्लोत्तर-आलोचना के सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक आलोचक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने छायावादी कविता को प्रतिष्ठित करने का सर्वाधिक प्रयास किया और पहली बार तटस्थ और निष्पक्ष आलोचना-पद्धति की नींव डाली। वाजपेयी जी की आलोचना में पहली बार रचनात्मक जीवन-चेतना तथा संवेदना की मनोवैज्ञानिक प्रांजलता, पुष्टता और गहराई साहित्यिक प्रतिमान के स्तर पर लक्षित हुई। आलोचना में आह्लादमूलक तीव्र मार्मिक अनुभूति की कलापूर्ण सुष्ठु अभिव्यक्ति के कारण ही इसे सौष्ठववादी आलोचना से अभिहित किया गया।"[25]

आचार्य वाजपेयी को सौष्ठववादी, स्वच्छंदतावादी आलोचक कहने के मूल में उनकी छायावादी काव्य समीक्षा रही है। यद्‌यपि उन्होंने सौष्ठववाद की कोई अलग से व्याख्या नहीं की है फिर भी सौंदर्य को परिभाषित करने तथा "छायावादी काव्य सौंदर्य का अनुसंधान करने के कारण यदि कोई उन्हें सौंदर्यवादी या सौष्ठववादी कहना चाहे तो कह सकता है।"[26] वाजपेयी जी को शुक्ल परंपरा के आलोचक सिद्ध करते हुए उनके समर्थ में डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने कहा है कि "वाजपेयी जी को इस बात का श्रेय मिलेगा कि छायावाद, प्रगतिवाद, महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं. रामचंद्र शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, दिनकर की और प्रयोगवादी रचनाओं की उन्होंने गंभीर या विस्तृत समीक्षा की। सामयिक जीवन की हलचलों को वे साहित्य रचना के लिए महत्त्वपूर्ण मानते थे।"[27] आलोचना के क्षेत्र में उनका प्रवेश सौंदर्यवादी व स्वच्छंदतावादी आलोचक के रूप में ही हुआ है। "उन्होंने आलोचना के मान के रूप में सौंदर्य की ऐसी सहज चेतना को प्रतिष्ठित करना चाहा है जिसमें व्यक्ति और समाज, राष्ट्र और विश्व, बाहर और भीतर, बुद्‌धि और भाव, वस्तु और रूप, नैतिकता और कला, प्राचीन और नवीन सभी मिलकर एक संवेदना या संस्कार बन गये हैं। अपनी इस विशेषता के कारण वाजपेयी जी हिंदी-

आलोचना के आधार-स्तंभ के रूप में मान्य रहेंगे।"[28] कहना न होगा कि डॉ. तिवारी जी ने वाजपेयी जी की सौष्ठवादी या स्वच्छन्दतावादी आलोचना पद्धति की ओर संकेत किया है। वाजपेयी जी की रुचि सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना में रही है। फिर भी व्यावहारिक आलोचना की ओर उनका झुकाव अधिक रहा है। चूँकि छायावाद के मूल में वैयक्तिकता का स्वर है और ठायावादी कवि-आलोचकों को वाजपेयी जी ने समर्थन किया जिससे वाजपेयी जी की स्वच्छंदतावादी आलोचना पद्धति जाहिर होती है। वाजपेयी जी शुक्लोत्तर-आलोचना में अनेक वादों के घटापेक्ष से बचते हुए भारतीय रसवाद सम्मत स्वच्छंदतावादी-सौष्ठववादी आलोचना पद्धति की स्थापना में सर्वोच्च शिखर पर हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और सौष्ठववादी आलोचना पद्धति के प्रमुख आलोचकों में माने जाते हैं। यद्यपि उनका दृष्टिकोण प्रधानतया मानवतावादी एवं समन्वयवादी रहा है। "कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी की समीक्षा-दृष्टि मूलतः रचनात्मक है। इनकी दृष्टि रचना के मूल सौंदर्य और उसके विषयक तत्त्वों को समझने का प्रयत्न करती है, अर्थात् ये इस सिद्धांत के समर्थक हैं कि साहित्य के सौंदर्य का आस्वाद और परीक्षण साहित्य के ही मानदण्डों से होना चाहिए।"[29] डॉ. अनंत चौधरी के शब्दों में, "स्वच्छंदतावादी समीक्षा की परिणति एक ओर जहाँ ऐतिहासिक दृष्टिकोण संकलित मानवतावादी समीक्षा के रूप में हुई है, वहीं दूसरी ओर प्रभाववादी समीक्षा के रूप में भी। मानवतावादी समीक्षा के मुख्य प्रवर्तक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी रहे हैं।"[30] द्विवेदी साहित्य के अध्ययन के समय उसके समस्त सौंदर्य-असौंदर्य, उपयोगिता-अनुपयोगिता पर अपनी विवेचना या अभिमत प्रकट करते हैं। द्विवेदी के निबंध संग्रह - 'अशोक के फूल', 'कुटज', 'विचार प्रवाह', 'विचार और वितर्क', 'कल्पकता', 'हिंदी साहित्य', 'आलोक पर्व', 'सूरदास', 'कबीर', 'साहित्य सहचर', 'साहित्य का मर्म तथा कालिदास की लालित्य योजना', 'हिंदी साहित्य की भूमिका' आदि हैं। इस प्रकार द्विवेदी जी सौष्ठववादी आलोचकों में मानवतावादी-शास्त्रीय दृष्टिकोण के आलोचक हैं।

डॉ. नागेंद्र भी सौष्ठववादी या स्वच्छंदतावादी आलोचकों में प्रमुख स्थान के अधिकारी हैं। यद्यपि आलोचना-यात्रा के प्रारंभ में उनका दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक-मनोविश्लेषणवादी ही रहा है, फिर भी रसवादी होने के कारण सौष्ठववादी खेमे के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। उनका काव्यबोध प्रधानतया छायावादी रहा है। "उस सौष्ठववादी का काव्यचेतना को आत्मसात् करने के कारण भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यदर्शन के समन्वय में ही नगेंद्र जी की मूल आस्था जम सकी। यही आस्था सौष्ठववाद एवं स्वच्छंदतावाद की आधारभूत चेतना है।"[31] नगेंद्र जी व्यावहारिक आलोचना की अपेक्षा सैद्धांतिक आलोचना-संबंधी मान्यताओं में सौष्ठववादी आलोचना-पद्धति के अधिक सन्निकट हैं। डॉ. वेंकट शर्मा के मतानुसार, "शुक्लोत्तर-युग की सौंदर्यमूलक स्वच्छंदतावादी विचारधारा तथा रसवादी परंपरा के समन्वयकारी समालोचकों में डॉ. नगेंद्र का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।" उनके आलोचनात्मक ग्रंथ-सुमित्रानंदन पंत, साकेत : एक अध्ययन, आधुनिक हिंदी नाटक, विचार और अनुभूति, विचार और विवेचन, विचार और विश्लेषण, रीति काव्य की भूमिका, देव और उनकी कविता तथा रस-सिद्धांत आदि हैं। 'नयी समीक्षा : नये संदर्भ' में उन्होंने सौष्ठववादी पद्धति का परिचय दिया है, "काव्य का मूलतत्व भी मानव संवेदना या रागात्मकता ही है, और अन्य नैतिक-सामाजिक एवं बौद्धिक गुण उसका सम्पोषण कर, उसी के आधार पर, रसात्मक बोध के रूप में एक समाकलित काव्यमूल्य का निर्माण करते हैं। जब हम काव्य के अंतरंग मूल्य की बात करते हैं तो हमारे सामने यह अंतिम प्रतिमान ही रहता है, अतः काव्य के संदर्भ में यह निश्चय

ही सबसे अधिक प्रामाणिक है।"[32] डॉ. नगेंद्र रस को व्यापक अर्थ में सौंदर्य का पर्याय घोषित करते हैं। रस-सिद्धांत उनकी आलोचना-प्रक्रिया की चरम परिणति है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सौष्ठववादी-स्वच्छंदतावादी आलोचक डॉ. नगेंद्र शुक्लोत्तर-आलोचना के आधार-स्तंभों में से एक हैं। "उनके समीक्षक की सर्वाधिक विशिष्टता समन्वयवाद से संबद्ध है।"[33]

शांतिप्रिय द्विवेदी आलोचना के क्षेत्र में मुख्यतया प्रभाववादी आलोचक के रूप में विख्यात हैं जिनका विवेचन-क्षेत्र प्रधानतया छायावादी काव्य ही रहा है। उन्होंने रस और संवेदनीयता को काव्य उद्देश्य में स्थान देने की चेष्टा की है जिससे उनका स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। उनका कहना है कि "कला की सार्थकता केवल सुंदरता में नहीं है, बल्कि उसके मंगल-प्राण होने में है।"[34] उनकी आलोचनाएँ वस्तुसत्य की अपेक्षा भावसत्य पर विशेष बल देती हैं तथा व्याख्यात्मक आलोचनाएँ प्रभाववादी आलोचना के स्वरूप को भी प्रतिबिंबित करती हैं। द्विवेदी जी हिंदी साहित्य में मुख्य रूप से आधुनिक युग को अपना आलोच्य विषय बनाया है। उनका 'हिंदी साहित्य' और 'ज्योति विहग' विशेष महत्व रखता है। इस प्रकार द्विवेदी जी शुक्लोत्तर-युगीन आलोचना में ऐतिहासिक भूमिका अदा करते हैं। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि सौष्ठववादी या स्वच्छंदतावादी आलोचना-पद्धति के प्रमुख आलोचकों में आचार्य वाजपेयी, आचार्य द्विवेदी, डॉ. नगेंद्र, शांतिप्रिय द्विवेदी तथा इनके अतिरक्त डॉ. देवराज, सुधांशु जी, रामनाथ सुमन, गंगाप्रसाद पाण्डेय, प्रेमशंकर आदि हैं जिन्होंने अपनी-अपनी आलोचना-पद्धति सौष्ठववादी या स्वच्छंदतावादी पद्धति के माध्यम से शुक्लोत्तर-युगीन आलोचना पर मुहर लगायी है। अतः हम कह सकते हैं कि आचार्य वाजपेयी, आचार्य द्विवेदी और डॉ. नगेंद्र ने शुक्लोत्तर-आलोचना की वृहत्त त्रयी का निर्माण किया तथा सौष्ठववादी आलोचना-पद्धति से हिंदी-आलोचना को समृद्ध किया।

**मनोविश्लेषणवादी आलोचना**

मनोविश्लेषणावादी आलोचना मुख्य रूप से वैयक्तिक-चिंतन की जीवन दृष्टि है जो मनःस्थिति पर आधारित है, जिस पर पाश्चात्य मानसशास्त्रियों-फ्रायड, एडलर तथा युग का प्रभाव परिलक्षित होता है। मनोविश्लेषण-आलोटना-पद्धति मुख्य रूप से वैयक्तिक यथार्थ को उजागर करती है तथा काव्यकला को दमित-कामवासना की अभिव्यक्ति स्वीकारती है। शुक्लोत्तर-आलोचना में मनोविश्लेषण आलोचना-पद्धति के आलोचकों में डॉ. नगेंद्र, इलाचंद्र जोशई, जैनेंद्र कुमार, डॉ. देवराज उपाध्याय तथा अज्ञेय आदि प्रमुख हैं। ये आलोचक साहित्य को अतृप्त इच्छाओं तथा दमित वासनाओं को ही अभिव्यक्ति का दर्जा देते हैं। हिंदी-आलोचना में मनोविश्लेषणवादी आलोचना का प्रादुर्भाव मार्क्सवादी आलोचना की चरम-परिणति के समय हुआ। यह पद्धति मार्क्सवादी पद्धति के प्रति विरोध नहीं प्रकट करती, बल्कि समर्थन देती है। शुक्लोत्तर युग में मनोविश्लेषणवादी धारा का स्वागत साहित्यकारों द्वारा हुआ जिसके परिणामस्वरूप यह प्रवृत्ति आलोचना जगत् में भी प्रविष्ट हुई। मनोविश्लेषण फ्रायड के अनुसार किन्हीं विशिष्ट कारणों से मनुष्य की एषणायें अतृप्त रहकर अवचेतन में पड़ जाती हैं जिनकी दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति करना साहित्य में होती है। एडलर साहित्य कला को मानव की आत्महीनता की क्षतिपूर्ति का प्रयास मानता है तथा रंग जीवनेच्छा को ही कला-साहित्य का प्रेरणा मानता है।

शुक्ल जी ने मनोवैज्ञानिक सत्यों के अन्वेषण के साथ सामाजिक नैतिकता को भी ध्यान में रखकर

आलोचना प्रस्तुत की है। लेकिन शुक्लोत्तर-युगीन आलोचकों ने स्वच्छंदतावादी दृष्टि के कारण रचना में आत्मानुभूति को ही सर्वेसर्वा समझने-समझाने का प्रयत्न किया है। मनोविश्लेषणवादी आलोचना की प्रवृत्ति शुक्लोत्तर-आलोचना में ही देखने को मिलती है, जिसका संबंध मुख्यतः मनोविज्ञान से जुड़ा हुआ है किंतु 'मनोविश्लेषणवादी समीक्षा का संबंध मनोविज्ञान से होकर भी वस्तुतः मनोविज्ञान के एक विशेष संप्रदाय से है। यह समीक्षा मूलतः फ्रायड के अंतश्चेतनावादी सिद्धांतों पर आधारित है, जिस पर प्रगतिशील समीक्षा (मार्क्सवादी समीक्षा) समाजवादी सिद्धांतों पर..। किंतु मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा का कोई सर्वमान्य मानदंड विश्वास के साथ घोषित नहीं हुआ है, फिर भी एक वर्ग ऐसा अवश्य है जो फ्रायड और उनके शिष्यों द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धांतों को आधार मानकर काफी दूर तक चलने का प्रयास करता है। अंग्रेजी में मनोविश्लेषण के सिद्धांतों को आधार मानकर शेक्सपीयर आदि के ग्रंथों की समालोचना हुई है। अतएव अंग्रेजी में यह एक वाद के रूप में स्वीकार किया जा सकता है किंतु हिंदी में यह अभी साहित्यिकवाद के रूप में अपने किसी सामान्य गुण-धर्म की प्रतिष्ठा नहीं कर सका है। यह सत्य है कि फ्रायड, एडलर, युंग में मनोविश्लेषणवादी सिद्धांत आज के अनेक साहित्यकारों और समीक्षकों को प्रभावित कर सके हैं किंतु किसी भी समीक्षक ने इसे ज्यों-का-त्यों नहीं स्वीकार किया, उस पर भिन्न-भिन्न वादों और मतों के भी प्रभाव स्पष्ट लक्षित होते हैं। उन सब में सामान्य बात इतनी ही है कि वे सभी एक सीमा तक मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित है।"[35] शुक्लोत्तर-आवोचना की प्रवृत्तियों में पूर्ण न होते हुए भी अल्पांश रूप में यह प्रवृत्ति मान्यता प्राप्त कर चुकी है और सही अर्थों में मान्यता पाने के अधिकारी भी हैं क्योंकि धीरे-धीरे इसका प्रभाव गौण रूप में अनेक शुक्लोत्तर-आलोचकों ने स्वीकार किया है।

डॉ. बच्चनसिंह ने स्पष्ट घोषित किया है कि "मनोविश्लेषणात्मक आलोचना का गुण और दुर्गुण यह है कि रचयिता की मनःस्थितियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है, स्वयं रचना के संबंध में मौन रहती है। जहाँ तक प्रगीतों का संबंध है इस प्रस्तुतीकरण का औचित्य, एक सीमा तक माना जा सकता है। लेकिन अभिजात्यवादी रचनाओं को लेकर जो सामान्यतः पूर्ण कथा पर आधारित और सचेतन ढंग पर संघटित होती है रचयिता की मानसिक दशाओं का लेखा-जोखा कैसे प्रस्तुत किया जा सकता है? अतः मनोविश्लेषण को आलोचनात्मक पैमाने के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसे आंशिक रूप में, सहायक के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए।"[36] मनोविश्लेषणात्मक आलोचना साहित्य निर्माण की प्रेरणा को मनुष्य की अवचेतन में दमित वासनाओं से आना स्वीकारती है, जिससे कलासाहित्य स्वान्तः सुखाय कहलाती है। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ ही कला की प्रेरक तत्त्व हैं। "हिंदी में मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के समालोचकों ने काव्य की आधुनिक गतिविधि पर विचार करते हुए कला की वैयक्तिकता और जीवन शक्ति प्रदान करने की क्षमता के सिद्धांतों को अपनी आलोचना के मान के रूप में ग्रहण किया है। जीवन शक्ति प्रदान करने की क्षमता ही कला की श्रेष्ठता का मानदंड माना गया है। जहाँ पर उन्हें इस प्राणशक्ति का अभाव प्रतीत हुआ है, वहाँ उन्होंने मनोविश्लेषणशास्त्र के सिद्धांतों के आधार पर उसके कारणों का अनुसंधान किया है। मनोविश्लेषण इन आलोचकों की शैली है पर काव्य की श्रेष्ठता की धारणा प्रायः सर्वसामान्य कही जा सकती है।"[37]

अतएव "मनोविश्लेषणवादी आलोचना-पद्धति के मूल में व्यक्ति चिंतन की जीवन दृष्टि है जिस पर पाश्चात्य मानसशास्त्रियों के सिद्धांतों का गहरा प्रभाव है। जिस प्रकार मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति का आधार

सामाजिक यथार्थ है उसी प्रकार मनोविश्लेषणवादी आलोचना-पद्धति का आधार वैयक्तिक यथार्थ है। सौष्ठववादी पद्धति के मूल में जो व्यक्ति चिंतन तथा व्यक्तिहित की भावना है, वह अधिक गहन तथा गंभीर होकर मनोविश्लेषण पद्धति में परिणत हो जाती है।"[38] आलोचना की यह व्यक्तिवादी प्रवृत्ति वैयक्तिकता को समर्थन हो जाती है। यह पद्धति अंतर्जगत् में उसी तरह क्रियाशील रहती है, जिस तरह मार्क्सवादी पद्धति बहिर्जगत् में। हिंदी-आलोचना की मनोविश्लेषणवादी यह आलोचना-पद्धति मूलतः वैयक्तिक चिंतन से रूपायित मनाव की अतृप्त आकांक्षाओं तथा मनःस्थिति का रहस्योद्घाटन करती है। मन का विज्ञान ही इसका मुख्य क्षेत्र होता है तथा वैयक्तिक यथार्थ उपकरण। दमित कामवासना की अभिव्यक्ति ही इसकी आधारशिला हा। पाश्चात्य मानसशास्त्रियों- फ्रायड, युंग तथा एडलर से यह पद्धति प्रभावित है जिसका आविर्भाव प्रगतिवादी आलोचना की चरम परिणति के समय हुआ। फ्रायड के अनुसार किन्हीं विशेष कारणों से मनुष्य की एषणाएँ अतृप्त रहकर अवचेतन में पड़ा जाती हैं जिनकी दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति साहित्य के माध्यम से होती है। युग जीवनेच्छा को ही कला-साहित्य का प्रेरक तत्व स्वीकारता है। एडलर साहित्य को मानव की आत्महीनता की क्षतिपूर्ति का प्रयास तक सीमित रखता है।

आचार्य शुक्ल ने मनोवैज्ञानिक सत्यों के अन्वेषण के साथ सामाजिक नैतिकता को भी ध्यान में रखकर समीक्षादर्श प्रस्तुत किया। डॉ. नगेंद्र ललित साहित्य की सर्जना में कामवृत्ति की प्रेरणा स्वीकारते हैं। अतएव "मनोविश्लेषणवादी समीक्षा का संबंध मनोविज्ञान से न होकर भी वस्तुतः मनोविज्ञान के एक विशेष संप्रदाय से है। यह समीक्षा मूलतः फ्रायड के अंतःचेतनावादी सिद्धांतों पर आधारित है।"[39] इस आलोचना-पद्धति के प्रमुख आलोचकों में इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, डॉ. देवराज उपाध्याय तथा डॉ. नगेंद्र हैं। डॉ. नगेंद्र की मनोविश्लेषणवादी पद्धति को प्रकाशित करनेवाले ग्रंथों में आधुनिक हिंदी नाटक, रीति काव्य की भूमिका, मिथक और साहित्य तथा देव और उनकी कविता है। विचार और विश्लेषण एवं आस्था के चरण भी इस पद्धति को विश्लेषित करते हैं। डॉ. शांतिस्वरूप गुप्त के मतानुसार मनोविश्लेषणवाद "कवि के अंतर्मन को समझने में वह निश्चय ही हमारी सहायता करता है। और कलाकार के साहित्यिक जीवन के अध्ययन से उसकी कला को समझने में आसानी रहती है। रचना के पीछे सक्रिय रहनेवाली मानसिक प्रवृत्तियों को समझने में मनोविश्लेषण हमारी सहायता करता है।"[40]

डॉ. नगेंद्र ने स्वयं लिखा है कि "कोई रचना रसवती तभी हो सकती है जब रचयिता उसमें अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः अनूदित कर दे। अपने व्यक्तित्व का अनुवाद ही रचयिता के लिए सबसे बड़ा आनंद है।"[41] यही नहीं मनोविश्लेषणवादी प्रवृत्ति अन्यत्र भी मौजूद है जब वे यह कहते हैं कि "मैं यह मानता हूँ कि प्रत्येक साहित्यिक कृति का संबंध कृतिकार के व्यक्तित्व से है।" सथ ही डॉ. नगेंद्र इसके महत्त्व को स्वीकारते हैं। उनका कहना है कि "विचार के क्षेत्र में भौतिक, बैद्धिक मूल्यों की अधिक विश्वसनीय तथा रोचक ढंग से स्थापना की गयी और जीवन तथा साहित्य के पुनर्मूल्यांकन में सहायता मिली। साहित्यकार के व्यक्तित्व तथा साहित्य की प्रवृत्तियों के विश्लेषण व्याख्या के लिए नवीन मार्ग खुल गया, जिससे साहित्य की प्रवृत्तियों के विश्लेषण व्याख्या के लिए नवीन मार्ग खुल गया, जिससे कर्ता तथा कृति का मूल संबंध स्पष्ट करने में बड़ी सुविधा हुई। इस प्रकार डॉ. नगेंद्र मनोविश्लेषणवादी प्रवृत्ति से प्रभावित ही नहीं, उसके हिमायती भी हैं। डॉ. नगेंद्र की दृष्टि रागात्मक ध रातल पर स्थिर होने के कारण, उनका मनोविश्लेषणवाद से संबंध होना स्वाभाविक है।"[42]

हिंदी-आलोचना में प्रतिमान के स्तर पर मतैक्य नहीं है क्योंकि साहित्यिक परंपरानुसार अनेक उथल-पुथल एवं सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक संकट साहित्य एवं साहित्यकार को प्रभावित करते रहे हैं

फिर भी रचनात्मक एवं समीक्षात्मक दोनों प्रकार के साहित्यानुशीलन से साहित्य समृद्ध हुआ है - इस तथ्य को सभी आलोचक एक स्वर से स्वीकार करते हैं। हाँ, कुछ एक आलोचकों को वादी साहित्य से अवश्य परहेज है लेकिन उसके लिए विभिन्न वादों की संकीर्णता से मुक्ति ही युक्ति है। अधिकांश आलोचकों ने समन्वयवादी विचारधारा के लिए संकेत किया है और लगता है कि समन्वयवादी आलोचना ही भविष्य में एकमात्र सशक्त, सबल, समाजोपयोगी एवं समर्थवान आलोचना होगी जिसमें सामंजस्य का निकष होगा और सौंदर्य ही उसका पर्याय जिसकी संभावना आचार्य शुक्ल, आचार्य वाजपेयी, आचार्य द्विवेदी, आचार्य नगेंद्र, कुमार विमल, डॉ. पूर्णमासी राय, डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ. अनंत चौधरी तथा बाबू गुलाबराय आदि साहित्य-चिंतकों ने की है।

इस आलोचना के प्रतिनिधि आलोचक डॉ. नगेंद्र ने पाश्चात्य तीनों मनोवैज्ञानिकों के सिद्धांतों का यथास्थान भरपूर प्रयोग किया है। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि इन्हीं सिद्धांतों के केंद्र-बिंदु मानकर डॉ. नगेंद्र ने साहित्य की प्रेरणा, जीवन की मूलभावना तथा साहित्य का प्रयोजन आदि अपने आलोचना सिद्धांत स्थापित किया है। 'साहित्य की प्रेरणा' में उन्होंने मनोविश्लेषणवादी पद्धति का सहारा लिया है। "काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की ही प्रेरणा है। हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है, उनमें कामवृत्ति का प्राधान्य है, अतएव हमारे व्यक्तित्व में होनेवाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यतः काममय है और चूँकि ललित साहित्य मूलतः रचनात्मक होता है, अतः उसकी प्रेरणा में कामवृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध है।"[43] जाहिर है कि फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धांत डॉ. नगेंद्र के उक्त विवेचन में मुखरित हो रहा है। "डॉ. नगेंद्र पर फ्रायड के मनोविश्लेषणशास्त्र का भी प्रभाव है और वे अपनी शास्त्रीय आलोचनाओं में उसका उपयोग भी करते हैं।"[44]

डॉ. नगेंद्र स्वयं इस धारणा का खंडन करते हैं तथा स्वीकारते हैं कि "प्रस्तुत निबंध में व्यक्त इस अभिमत के आधार पर कि ललित साहित्य की सर्जना में कामवृत्ति की प्रेरणा प्रमुख है, मेरे बार-बार इनकार करने पर भी, लोग मुझे वर्षों तक फ्रायडवादी आलोचक मानते रहे।"[45] कहना न होगा कि डॉ. नगेंद्र ने काव्य में रसतत्व के प्रति विशेष आग्रह के कारण फ्रायड से प्रभावित हैं, इस तथ्य को उन्होंने मेरे समक्ष एक साक्षात्कार में स्वीकार किया है। यह दूसरी बात है कि वे फ्रायड से पूरी तरह प्रभावित नहीं है, लेकिन यह कहना सत्य से काफी दूर है कि वे फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धांत से बिल्कुल प्रभावित नहीं हैं, क्योंकि "डॉ. नगेंद्र ने अपनी आलोचनाओं में जीवनी और मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में सौंदर्यानुभूति की व्याख्या प्रस्तुत की है। 'सुमित्रानंदन पंत' पुस्तक से ही आलोचक की रुझान उन तत्वों की ओर दिखायी पड़ती है। जीवनी का अनावश्यक विवरण देना उन्हें अभीष्ट नहीं है। जीवनी से आलोचक का अभिप्राय उस समस्त परिवेश से होता है जिसमें कवि का व्यक्तित्व गठित होता है। छोटे-छोटे निबंधों में भी वे इस पर बराबर ध्यान देते रहते हैं। जीवनी से कवि के मानसिक जगत को समझने में सहायता मिलती है और उससे रचनाओं का सौंदर्यगत विश्लेषण सुगम हो जाता है। नगेंद्र जी के कुछ निबंधों में मनोविश्लेषण का सहारा इस ढंग से लिया गया है कि उन्हें कुछ लोगों ने फ्रायडवादी आलोचक की संज्ञा भी दी।"[46] इसी आशय की पुष्टि डॉ. रवींद्रसहाय वर्मा के इस वाक्य से भी हो जाती है कि "डॉ. नगेंद्र कला का उद्गम अवचेतन ही मानते हैं जिसमें असामाजिक, दमित और अतृप्त काम कुंठाओं का पुंज वर्तमान रहता है।"[47]

यह तथ्य नकारा नहीं जा सकता है कि 'वस्तुतः फ्रायड के अनुरूप ही डॉ. नगेंद्र की धारणा भी यही है कि मनुष्य मन के अचेतन में केंद्रीभूत अमुक्त कामेच्छाएँ अथवा दमित वासनाएँ स्वप्न, दिवास्वप्न, कला और साहित्य में ही अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग खोजती हैं।' यही नहीं फ्रायड की 'इडीपस ग्रंथि' संबंधी धारणा के आधार

पर ही डॉ. नगेंद्र समस्त कलात्मक प्रक्रिया के पीछे बाल्यावस्था की काम-प्रवृत्ति का योग मानते हैं।"[48] स्पष्ट है कि 'रस सिद्धांत को काव्य का शाश्वत प्रतिमान स्वीकार करने के बावजूद डॉ. नगेंद्र उसकी प्राचीन व्याख्याओं से असंतुष्ट नहीं हो पाते। उन्होंने मनोविश्लेषणवाद, उपयोगितावाद, प्रभाववाद और वर्गवाद के विचार दर्शनों के आधार पर रसवाद का एक उदात्त, विशद् और अभिनव रूप खड़ा किया है और आनंद को काव्य का शाश्वत प्रतिमान घोषित किया है। स्पष्ट है कि रस-सिद्धांत के आख्यान में सबसे पहले इन्होंने ही आधुनिक मनोविज्ञान को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है और इस प्रकार रसवाद की मनोवैज्ञानिक स्थापना की है।"[49] अतएव मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को शुक्लोत्तर आलोचना में प्रयुक्त करनेवाले आलोचकों में डॉ. नगेंद्र का ऐतिहासिक स्थान है। "यह संयोग है कि शुक्लोत्तर-आलोचना के सभी महत्वपूर्ण आलोचक अध्यापन कर्म से संबद्ध रहे, लेकिन अध्यापन ने जितना डॉ. नगेंद्र की आलोचना को समृद्ध किया, अध्यापकवृत्ति का जितना प्रभाव उनकी आलोचना पर पड़ा, उतना शायद ही किसी दूसरे आलोचक पर पड़ा हो। एक सफल अध्यापक के विषय के प्रतिष्ठा, निर्भ्रांत विश्लेषण की दृष्टि और अपने निष्कर्षों को विद्यार्थियों तक सुचारु रूप से पहुँचाने की जो क्षमता अपेक्षित है, वही डॉ. नगेंद्र की आलोचना की मुख्य शक्ति है।"[50]

हिंदी-आलोचना में "इस प्रकार डॉ. नगेंद्र अपनी मूलभूत जीवनदृष्टि के आधार पर, जो व्यक्ति चिंतन, व्यक्ति हित, व्यक्ति स्वातंत्र्य से प्रभावित है और जो मनोविश्लेषण के सिद्धांतनों से पुष्ट है, साहित्य एवं आलोचना संबंधी मान मूल्यों को निर्धारित करते हैं और इन मान मूल्यों का प्रयोग काव्य प्रवृत्तियों, साहित्यिक धाराओं, साहित्यकारों तथा उनकी कृतियों के विवेचन में करते हैं। उनके इस विश्लेषण तथा विवेचन में मनोविश्लेषण के सिद्धांतों का स्पष्ट प्रभा लक्षित होता है।"[51] वह रस तथा आनंद की व्याख्या भी मनोवैज्ञानिक पद्धति से करते हैं। छायावाद के स्वरूप को भी मनोविश्लेषणपद्धति पर आधृत व्याख्या करते हैं। उनका कहना है कि छायावाद की कविता प्रधानतः शृंगारिक है, क्योंकि उनका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुंठाओं से और व्यक्तिगत कुंठाएं प्रायः काम के चारों ओर केंद्रित रहती हैं। अतएव कहा जा सकता है कि मनोविश्लेषणवादी आलोचना पद्धति जो व्यक्तिवाद की विचारधारा से जुड़ी हुई है कि अभिव्यक्ति डॉ. नगेंद्र की आलोचना में उपलब्ध है। डॉ. नगेंद्र की दृष्टि रागात्मक धरातल पर स्थिर होने के कारण, उनका मनोविश्लेषणवाद से संबद्ध होना स्वाभाविक है।"[52]

इलाचंद्र जोशी मनोविश्लेषणवादी आलोचना पद्धति के प्रमुख आलोचकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वह फ्रायड और एडलर के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों की महत्ता एवं उपयोगिता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं और अपने आलोचना के मानदंडों को उन्हीं आधारों पर स्थापित करते हैं। इस आलोचना पद्धति में जोशी जी को अगाध आस्था एवं अटूट विश्वास है। वे मनोविश्लेषणवादी पद्धति से 'कला और नीति', 'प्रगति या दुर्गति', 'जनसाधारण के साहित्य का आदर्श', 'साहित्य कला और विरह', 'साहित्य में दुःखवाद', 'साहित्य संबंधी कतिपय तथ्य', 'युग साहित्य', 'आधुनिकतम उपन्यास का दृष्टिकोण' आदि समस्याओं पर गंभीरता से आलोचनाएँ प्रस्तुत करते हैं। यहाँ पर हम देखते हैं कि जोशी जी 'कला और नीति' में कला का मूल उत्स आनंद घोषित करते हैं तथा आनंद को प्रयोजनातीत बताते हैं। इस प्रकार जोशी जी शुक्लोत्तर-आलोचना की महत्त्वपूर्ण पद्धति मनोविश्लेषणवाद के आधार पर अपनी सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आलोचना का निर्वाह करते हैं तथा आलोचना की विकास रेखा को पुष्ट करते हुए अपने अथक परिश्रम से आगे बढ़ाते हैं।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' मनोविश्लेषणवादी आलोचना पद्धति के चोटी के आलोचक हैं,

जिन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध, आलोचना आदि साहित्यिक विधाओं पर अपनी लेखनी उठायी है। 'त्रिशंकु' उनके आलोचनात्मक निबंधों का संग्रह ग्रंथ है तथा 'आत्मनेपद', 'आधुनिक हिंदी साहित्य' और 'हिंदी साहित्य : एक परिदृश्य' भी आलोचनाएँ प्रस्तुत करते हैं। इन पर एडलर का प्रभाव परिलक्षित होता है। इन्होंने 'त्रिशंकु' में 'प्रभुत्व कामना' और क्षतिपूर्ति के सिद्धांतों की विवेचना प्रस्तुत की है। उनके मतानुसार 'व्यक्ति-सत्ता' की वास्तविक अनुभूति ही मनुष्य को सामाजिक इकाई का बोध कराने में सक्षम, समर्थ व संतुष्ट होती है। उसकी उपयोगी कृतियाँ सामाजिक मान्यताओं के परिधि में सामंजस्य स्थापित करती हुई उसे संतोष प्रदान करती हैं। इसके विपरीत मनुष्य का वैयक्तिक प्रभाव और कृतियों का महत्त्व जब सामाजिक मान्यताओं से मेल नहीं खाता और उसे सामाजिक स्वीकृति नहीं प्राप्त होती, तब वह विद्रोही स्वर में बोलने लगता है। व्यक्ति कभी-कभी अतीत के गर्त में अपने को डालता है, परिस्थितियों से सामाजिक परिप्रेक्ष्य में समझौता करता है तथा उसके मूल्य को अपनी सेवाओं द्वारा अदा करता है और स्वयं को संतुष्ट करता है। 'कला का सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न, अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।"[53]

मानव अपनी वैयक्तिक महत्ता समाज पर प्रभुत्व स्थापित करने हेतु कला को जन्म देता है। सौंदर्य-बोध कला की आत्मा और नूतन सृष्टि का रहस्य है। कला अपर्याप्तता का विद्रोही स्वर ही जो कलाकार की कृति में ध्वनित होती है। 'अज्ञेय' जी के अनुसार कला का उद्देश्य वास्तविक नैतिक-मूल्यों की सामाजिक उपयोगिता में दृष्टिगत करने का प्रयास है। अर्थात् दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि कला एक प्रकार का आत्मदान है, जिससे व्यक्ति के अहं की संतुष्टि होती है। इस प्रकार अज्ञेय कला को नीतिपरक तथा नैतिकता के एक विशेष परिप्रेक्ष्य में परखते हैं। उनका अभिप्राय नीति-मोरेलिटी का पर्याय स्थापित करने का नहीं है, अपितु सामाजिक मान्यताओं पर आधृत है। मनोविश्लेषणवादी आलोचना पद्धति में अज्ञेय जी ऐसे सुधी आलोचक हैं, जिन्होंने अपना मनोवैज्ञानिक प्रतिमान स्थापित करके शुक्लोत्तर-आलोचना को एक नयी दिशा प्रदान की है। डॉ. सत्यदेव मिश्र के शब्दों में, "अज्ञेय पर पाश्चात्य मनोविज्ञान (विशेष रूप से फ्रायड एवं एडलर) का अत्यधिक प्रभाव है। उनका कथा-साहित्य इस प्रभाव से परिपूरित है।"[54]

साहित्य-सृष्टि की मुख्य प्रवृत्ति को साहित्यिक परंपरा से संबंधित होना साहित्यकार के लिए अत्यावश्यक एवं अपेक्षित है। उन्हीं के शब्दों में, "साहित्यकार को कला की, साहित्य-सृष्टि की मूख्य प्रवृत्ति से साहित्यिक परंपरा का निरंतर विकासशील प्रवहमानता से परिचित होना ही होगा, अतीत में से निकट अतीत और उसमें से वर्तमान के विकास की भी परंपरा के प्रति ऐतिहासिक जागरूकता उसे पानी ही होगी। उसे अपने निजी, व्यक्तिगत, भिन्न, अकेले मन के प्रति ही नहीं, अपने साहित्य के, अपने समाज के, अपनी सांस्कृतिक परिवृत्ति के, अपने देश के समष्टिगत मन के यदि उसकी क्षमता उतनी है तो जम-मन, विश्व-मन के प्रति भी सचेतन होना होगा, क्योंकि उसे इसका भी अनुभव करना होगा कि यह विशालतर मन उसके निजी मन से कहीं अधिक गौरव रखता है, और जितने भी बड़े मन की जितनी ही गहरी चेतना है, उतना ही अपने युग के साथ उसका संबंध फलप्रद है।" डॉ. विद्यानिवास मिश्र इसी को उत्कृष्टता के सर्वोच्च शिखर पर देखने के आकांक्षी हैं, क्योंकि साहित्यकार अपने उत्कृष्टतर साहित्य एवं विचार संपदा के माध्यम से जीवित रहता है और मानवीय मूल्यों के प्रतिष्ठापन के कारण ही वह अमर बनता है। "परंपरा में व्यक्ति की सिद्ध वस्तु के रूप में पूजा नहीं होती, व्यक्ति की निरंतर उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर रचना होती है। इसलिए महाभारत भूतकाल की घटना का विवरण मात्र नहीं है, यह घटना

के विवरण के ब्याज से मानव धर्म की शाश्वत अभिव्यंजन है।"[55]

अज्ञेय का यह सोच पूर्णतया आधुनिक सोच है जिसमें मनोविज्ञान की आधुनिक अवधारणा 'अहं' काम कर रही है। अज्ञेय का अहं जब परंपरा के विशाल अनुभव से टकराता है तो वह अपने व्यक्तित्व की रक्षा के प्रति सचेत हो उठता है। यह अहं किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्धारण करता है।"[56] डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अज्ञेय की सर्जनात्मक भाषा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। "प्रयोगवाद में अज्ञेय के माध्यम से काव्यभाषा का पुनर्सृजन आरंभ होता है। भाषा के संबंध में अज्ञेय जैसी सावधानी कम ही रचनाकारों ने बरती है। अज्ञेय के प्रशंसक कुछ ऐसे पाठक और समीक्षक हैं जो उनके कथ्य से सहमत न होते हुए भी उनकी कला के बड़े उपासक हैं। संभवतः वे नहीं जानते कि भाषा का अधिक-से-अधिक सतर्क और सृजनात्मक प्रयोग करके ही अज्ञेय ने अपनी कला को इतना निखारा है।"[57] इसी आशय की पुष्टि डॉ. रघुवंश ने भी कर दी है। "अज्ञेय की विशिष्टता है कि उन्होंने भाषा को साधारण, अनगढ़ और लोक-प्रयोग के स्तर से युग-बोध के जटिल और सूक्ष्म संवेदना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। यह कठिन कार्य था, परंतु इस क्रांतिकारी प्रयोग के बिना काव्य को आधुनिक संवेदनाओं और अनुभवों की अभिव्यक्ति का वाहक बनाया भी नहीं जा सकता था। उसी प्रकार उनके काव्य में प्रयुक्त उपमानों, बिंबों तथा प्रतीकों में युग-जीवन के नये और ताजे संदर्भ गृहीत हैं।"[58]

साहित्य सर्जन के मूल में व्यक्ति की भावनाएं एवं अंतःप्रेरणाओं का योग होता है। अज्ञेय का साहित्य इसी अंतः प्रेरणाओं के समन्वय से निर्मित है। "साहित्य किसी वाद या विचारधारा के साँचे में ढालकर नहीं लिखा जा सकता, वह तो व्यक्ति, की भावनाओं और अंतःप्रेरणाओं से रखा जाता है।"[59] अज्ञेय का अवचेतन मन उनकी साहित्य-सर्जना पर हावी है। उनका अवचेतन प्राचीन आदिम बिंबों से निर्मित रचना-प्रक्रिया में बहुत बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं। अज्ञेय इस अवचेतना के गर्त को सृष्टि का मूलस्रोत समझते हैं। साहित्यकार का अवचेतन अपने जातिगत अनुभवों से संयुक्त एवं समन्वित होता है। इस अवचेतन का लगाव उसे रचना-प्रक्रिया की क्रिया में सम्पृक्त एवं संश्लिष्ट स्थिति में पहुँचा देता है जहाँ सृष्टि-चक्र प्रारंभ होता है। अतएव "अज्ञेय जी साहित्य पर सामाजिक, राजनीतिक और अन्यान्य प्रभावों को स्वीकार करते हैं। अन्य मनोविश्लेषणवादियों की अपेक्षा वे सामाजिक चेतना को अधिक स्थान देते हैं। उनकी स्पष्ट घोषणा है कि साहित्य समाज के लिए ही बनता है जिसमें लेखक की आत्मतुष्टि भी सम्मिलित होती है। किंतु अपनी सामाजिक चेतना की व्याख्या में कुछ ओरों से अलग हो जाते हैं।"[60] डॉ. देवराज उपाध्याय भी मनोविश्लेषण आलोचना पद्धति के आलोचक हैं। यद्यपि कुछ एक आलोचकों ने उन्हें स्वच्छंद आलोचक के रूप में गिनती की है - जैसे डॉ. रामदरश मिश्र, लेकिन गंभीरता से विचार करने पर डॉ. उपाध्याय को मनोविश्लेषणवादी आलोचना पद्धति में ही गिना जाना समीचीन प्रतीत होता है। उनके ग्रंथों से उनकी आलोचना शिल्प का पता लगाया जा सकता है जिसमें 'आधुनिक हिंदी कथा साहित्य और मनोविज्ञान' एवं 'जैनेंद्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन', 'कथा के तत्त्व', 'साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' आदि मुख्य हैं। 'डॉ. उपाध्याय ने मनोविज्ञान के विभिन्न संप्रदायों एवं स्फुट मनोवैज्ञानिक उत्पत्तियों की चर्चा अपने प्रबंधों में विस्तार से की है। उनके द्वारा किया हुआ पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों एवं मनीषियों के विचारों का विश्लेषण-विवेचन इस बात का सबल प्रमाण है कि उनकी पाश्चात्य मनोविज्ञान एवं साहित्यशास्त्र में गहरी पैठ है। उन्होंने न केवल हिंदी उपन्यासकारों एवं कहानी-प्रेमचंद, अज्ञेय, जैनेंद्र, रांगेय राघव, इलाचंद्र जोशी आदि - की रचनाओं पर मनोविज्ञान के प्रभावों का निदर्शन किया है, वरन् पाश्चात्य औपन्यासिकों के मनोवैज्ञानिक प्रयोगों का भी विश्लेषण

किया है।"[61]

**मार्क्सवादी या प्रगतिवादी-आलोचना**

शुक्लोत्तर-आलोचना की महत्त्वपूर्ण पद्धति मार्क्सवादी या प्रगतिवादी या समाजवादी है। यह आलोचना-पद्धति शुक्लोत्तर-आलोचना की वह महत्त्वपूर्ण पद्धति है जिसमें वर्ग संघर्ष, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तथा सामाजिक यथार्थवाद का रहस्योद्घाटन पाया जाता है। प्रेमचंद की अध्यक्षता में प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन 1936 ई. में लखनऊ में हुआ था जिसमें लेखक स्वभावतः प्रगतिशील होता है कि पुष्टि की गयी। प्रगतिवाद जो एक काव्य प्रवृत्ति बनकर साहित्य में आया, यथार्थवादी प्रवृत्ति के कारण प्रगतिवादी-आलोचना में भी द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, समाजवाद, राष्ट्रीय चेतना, नारी मुक्ति, कला जीवन के लिए तथा साधारण जन-संपर्क की भाषा एवं शोषित-पीड़ित मानव का विषय आदि प्रवृत्तियों के साथ शुक्लोत्तर-आलोचना में पदार्पण किया। 'मार्क्सवादी-आलोचना साहित्य की वह समाजशास्त्रीय-आलोचना है जो साहित्य के ऐतिहासिक तथा गतिशील पक्ष के संबंध का उद्घाटन करती है।"[62] "प्रगतिवादी समीक्षा-शैली आँकड़ा बनाकर देश-विदेश के साहित्य को उसी पैमाने से नापती-जोखती है, मानव-मनोभावों की प्रतिष्ठा पर ध्यान न देकर राजनीति के सूत्र खोजती है। वस्तुतः यह एक सामयिक उद्देश्य की पूर्ति करनेवाली विचार पद्धति है।"[65]

यह पद्धति जनहित तथा बहुजन हिताय की भावना एवं कामना का संदेश देती है क्योंकि मार्क्सवादी दृष्टि मूलतः सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि है। वह किसी वस्तु का अध्ययन देश-काल के परिप्रेक्ष्य में करती है, विवेच्य में अंतर्विरोधों का विश्लेषण करके वैज्ञानिक ढंग से प्रतिक्रिया और प्रगति के तत्त्वों को अलग-अलग छाँटती है।"[64] इस आलोचना पद्धति के प्रमुख आलोचक डॉ. शिवदानसिंह चौहान, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. प्रकाशचंद्र गुप्त, अमृतराय, डॉ. नामवर सिंह, डॉ. शिवकुमार मिश्र, डॉ. नवल, डॉ. जगदीश गुप्त, डॉ. रघुवंश आदि हैं। आलोचना-पद्धतियों पर विचार-विवेचन किया है। 'पिछले वीस-पच्चीस वर्षों में साहित्य के अध्ययन-अध्यापन और अनुशीलन के क्षेत्र में नयी विधाओं का प्रवेश हिंदी में हुआ है, और इससे हिंदी साहित्यालोचन के पांडित्य को गहरायी और उत्कर्ष प्राप्त हुआ है। पाण्डित्य की नयी हवायें हमारे साहित्य में प्रवेश कर रही हैं और उससे हमारे अध्ययन और आलोचना का स्तर ऊपर उठ रहा है। ऐसी नयी विधाओं में साहित्य का इतिहास दर्शन, सौंदर्यशास्त्र, शैली-विज्ञान, साहित्य का मिथकीय विश्लेषण और साहित्य का समाजशास्त्र प्रमुख हैं। इन विधाओं ने हिंदी के पांडित्य में गुणात्मक और प्रकाशात्मक दोनों प्रकार के परिवर्तन उपस्थित किये हैं। आलोचना वह आलोचना है जो वर्ग-संघर्ष, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तथा सामाजिक यथार्थवाद से पूर्णतः संबद्ध है। "आलोचना की मार्क्ससवादी पद्धति का, जिसे प्रगतिवादी पद्धति की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है - साहित्य की प्रगतिवादी प्रवृत्ति से अभिन्न संबंध है। इन दोनों के मूल में एक ही जीवनदृष्टि है जिससे अनुप्राणित होकर साहित्य की रचना तथा उसका मूल्यांकन किया जाता है। आलोचना के क्षेत्र में मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर न केवल अर्वाचीन साहित्यिक धाराओं तथा कृतियों का मूल्यांकन हुआ है वरन् प्राचीन काव्य को भी इसकी कसौटी पर परखा गया है।"[65]

सामाजिक यथार्थवाद प्रगतिवादी आलोचना का मेरुदंड है। प्रगतिवाद का मूल उत्स यथार्थवाद है जो प्रत्यक्षतः मार्क्स का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से संबंधित है। सन् 1935 में प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन फोर्स्टर की अध्यक्षता में पेरिस में हुआ था तथा भारत में उसी वर्ष मुल्कराज आनंद तथा सजजाद जहीर

ने भी उसकी स्थापना की। प्रेमचंद की अध्यक्षता में प्रथम अधिवेशन सन् 1936 में लखनऊ में हुआ था। इस प्रकार लेखक स्वभावतः प्रगतिशील होता है की पुष्टि की गयी। प्रगतिवाद जो एक काव्य प्रवृत्ति बनकर साहित्य में आया-आलोचना में भी इसका प्रादुर्भाव लखनऊ अधिवेशन से हो गया। यथार्थवादी प्रवृत्ति के कारण प्रगतिवादी आलोचना द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, सामाजिक यथार्थवाद या समाजवाद, राष्ट्रीयचेतना की प्रवृत्ति, व्यष्टि से समष्टि की प्रवृत्ति, नारी-मुक्ति की प्रवृत्ति, कला जीवन के लिए का मंत्र गान, सहज सामान्य बोलचाल की भाषा की प्रवृत्ति इत्यादि प्रवृत्तियों को दृष्टिगत रखते शुक्लोत्तर-आलोचना में पदार्पण करती है।

"हिंदी-आलोचना की महत्त्वपूर्ण समाजवादी या प्रगतिवादी आलोचना की यह धारा है, जिसका विकास शुक्लोत्तर हिंदी-आलोचना के क्षेत्र में निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण तथा ऐतिहासिक घटना है। लेकिन इसमें सबसे विवादग्रस्त पद्धति वह है जिसमें वर्ग संघर्ष और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांतों को साहित्य पर ज्यों-का-त्यों लागू करने का प्रयत्न किया जाता रहा है।"[66] प्रगतिवादी आलोचना साहित्य को सामाजिक उपयोगिता की कसौटी पर कसती है, मूल्यांकन करती है तथा अपना अभिमत प्रकट करती है। परंपरागत मानों से ऊपर उठकर नया प्रतिमान स्थापित करती है तथा झूठे चमत्कार, अनावश्यक अलंकारों, मिथ्या अभिव्यक्तियों का विरोध करती है। इसकी आग्रह सतही वास्तविकता न होकर सतह के भीतर कसमसाती हुई उत्थान्मुख व्याकुल वास्तविकता से है जो जीती-जागती सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करती है। अतः "मार्क्सवादी-आलोचना साहित्य की वह समाजशास्त्रीय आलोचना है जो साहित्य के ऐतिहासिक तथा गतिशील पक्ष के संबंध का उद्घाटन करती है।"[67] इसका मुख्य उद्देश्य समाज के पीड़ित-शोषित वर्ग का कल्याण तथा जनहित बहुजन हिताय की कामना है क्योंकि "मार्क्सवादी दृष्टि मूलतः सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि है। वह किसी वस्तु का अध्ययन देश काल के परिप्रेक्ष्य में करती है, विवेच्य में अंतर्विरोधों का विश्लेषण करके वैज्ञानिक ढंग से प्रतिक्रिया और प्रगति के तत्त्वों को अलग-अलग छाँटती है।"[68]

प्रगतिवादी-आलोचना में "वस्तुतः सामाजिक जीवन का यथार्थ कच्चे माल की भाँति है। लोगों की दृष्टि उसके पूरे फैलाव को समेट नहीं पाती किंतु साहित्यकार की पैनी दृष्टि चारों ओर के यथार्थ को समेटती हुई एक बने-बनाये माल की भाँति गहरी संवेदनाओं से युक्त करके अत्यधिक व्यवस्थित रूप में किसी कृति में प्रस्तुत करती है। इसीलिए कलाकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह ईमानदारी से सामाजिक जीवन को परखे और अपनी कृति सजीव रूप में प्रस्तुत करए। आर्थिक धरातल ही मुख्य सामाजिक धरातल है। इसी का प्रभाव साहित्य, कला आदि पर पड़ता है। मार्क्स के अनुसार भी सामाजिक विकास मूल में उसका अर्थिक आधार है। उत्पादनों के बदलने के साथ-साथ सामाजिक संबंध बदलते रहते हैं और सामाजिक संबंधों के बदलने के साथ-साथ उन्हें अभिव्यक्ति देनेवाले साहित्य, कला और दर्शन भी बदलते हैं।"[69] आलोचना के स्वरूप एवं प्रकृति निर्देशन में तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों की महत्त्वपूर्म भूमिका हुआ करती है क्योंकि साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रत्यक्ष एवं सीधा संबंध जनमानस की चित्तवृत्तियों से होता है। यही कारण है कि प्रगतिवादी या प्रगतिशील आलोचना भी इन्हीं साहित्यिक प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में साहित्यानुशीलन प्रस्तुत करती है। डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव ने सामाजिक सत्य को साहित्य क्षेत्र में स्वीकार करने की प्रवृत्ति प्रत्येक युग में पायी गयी स्वीकार करते हैं तथा प्रगतिवादी समीक्षा के पूर्व नव-जागरण युग की आलोचना का जो भी स्वरूप रहा, उसके साथ साहित्य की सामाजिक उपादेयता का प्रश्न सन्नद्ध रहा। प्रगतिवादी समीक्षा भी इसी सामाजिक उपादेयता के प्रश्न की महत्ता का प्रतिपादन करती है।"[70]

मार्क्सवादी आलोचना पद्धति के लेखक जिस प्रणाली को अपनाता है उसे डॉ. रवींद्र सहाय वर्मा सामाजिक यथार्थद और सामाजिक रोमांसवाद की संज्ञा प्रदान करते हैं। "मार्क्सवाद यथार्थवाद और रोमांसवाद का समन्वय कराता है। वह रोमांसवाद से तो स्वतंत्रता की भावना और एक उच्च आदर्श के प्रति निरंतर प्रयास करने की भावना ग्रहण करता है, और यथार्थवाद से जीवन के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण लेता है और उसके सही चित्रण का आग्रह करता है।"[71] इस प्रकार डॉ. वर्मा मार्क्सवादी-आलोचना द्वारा आधुनिक हिंदी आलोचना में युगांतर उपस्थित होना स्वीकारते हैं तथा मार्क्सवादी विचारधारा को दर्शन की समस्त आदर्शवादी प्रवृत्तियों का विरोध होना भी पाते हैं और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की चिंतना मार्क्सवादी आलोचना का आधार स्तंभ करार देते हैं जिसमें कला के सामाजिक तत्त्व की प्रधानता पायी जाती है। कॉडवेल ने साहित्य और समाज को जोडकर रखनेवाला साहित्यकार को साहित्यिक और सामाजिक व्यवस्था का आधार मूलतः आर्थिक मानते हुए प्रगतिवादी प्रवृत्ति का बीजारोपण किया है।

द्वंद्वात्मकता का सिद्धांत मार्क्स ने हीगेल से ग्रहण किया था जो मानवीय सामाजिक विकास में परिलक्षित होती है जिसका बुनियादी आधार आर्थिक है। झुकाव ने द्वंद्वात्मक के सिद्धांत को संशोधित करने का प्रयास किया तथा "समाजवादी यथार्थ को सौंदर्यशास्त्रीय रचनात्मकता से संबद्ध किया और कवि की वैयक्तिकता को भी स्वीकारा। लेकिन साम्यवादी दल जो साहित्य पर कड़ा नियंत्रण करने के पक्ष में है, लुकाच की मान्यताओं को स्वीकार न कर सका और उसे संशोधनवादी की संज्ञा दी।"[72] इस प्रकार मार्क्सवादी व्याख्या की पुनर्व्याख्या रोजेर गरौडी और अर्न्स्ट फिशर ने भी की तथा समाजवादी यथार्थवाद की प्रवृत्ति को गोर्की ने आलोचनात्मक यथार्थवाद ने विरुद्ध किया था। अतएव गोर्की, ब्रेख्त, शोलोकोष, ओं‍केसी आदि की पद्धतियों में भिन्नता होते हुए भी मार्क्सवादी सामाजिक यथार्थवाद की प्रवृत्ति में समानता है। मार्क्स का दर्शन द्वंद्वात्मक भौतिकवाद है जिसके सिद्धांतों पर आधृत ऐतिहासिक-भौतिकवाद है जो पूँजीवाद से संबद्ध है। अतः समाज की भौतिक एवं आर्थिक अवस्थायें साहित्य को भी प्रभावित करती हैं। समाज और मानव जीवन का सारा ढाँचा उत्पादन पर आधृत है। "मार्क्सवाद मानव के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास का एक विशेष क्रम मानता है। उसने उस विकास को कुछ युगों में बाँट रखा है जिसका आधार भौतिक है। मार्क्सवादी समाजशास्त्र का यह अटल विश्वास है कि समाज का विकास इन्हीं अवस्थाओं में हुआ है।"[73] स्पष्ट है कि समाजवादी यथार्थवाद प्रगतिवादी आलोचना की धुरी है जिस पर संपूर्ण आलोचना चक्र लगाती है और क्रम पूरा करती है। "इस प्रकार प्रगतिवादी समीक्षा की प्रमुख माँग यही है कि रचना में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति हो। सामाजिक यथार्थ में पुरानी शक्तियों के अत्याचार और कुरूपतायें तथा उनसे युद्ध करती अडिग आस्था ये सभी बातें मिली जुली हैं। प्रगतिवाद, जिसका दर्शन मार्क्सवाद है, भिन्न-भिन्न युगों के साहित्यों को उन युगों की वास्तविकताओं के आधार पर परीक्षित करता है। भिन्न-भिन्न युगों के संघर्षों और सामाजिक संबंधों की रूप-रेखायें भिन्न-भिन्न होती हैं, उस युग का साहित्यकार अपने युग के ही संबंधों और जन-विश्वासों को व्यक्त कर सकता है।"[74] प्रगतिवादी आलोचना में मार्क्सवादी दर्शन द्वंद्वात्मक भौतिकवाद प्रमुख है जिसका संबंध भौतिकवाद से है जो अर्थ को उत्पादन का मूलमंत्र मानता है तथा सामाजिक यथार्थवाद या समाजवादी यथार्थवाद पर यह अवलंबित है। और इन दोनों को अलग-अलग नहीं देखा जा सकता है। दोनों को अलग-अलग देखने से कविता की अन्विति को आघात पहुँचता है।"[75] यथार्थवाद और स्वच्छंदतावाद के मिश्रण का प्रयोग गोर्की जीवन के अंतिम वर्ष में कर रहा था। इसके द्वारा तब वह इस निष्कर्ष पर आया कि, "समाजवादी यथार्थवाद की व्यापकता अपने में एक तत्त्व क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद को लिए हुए

है और इससे अधिक इसकी व्याथ्या की आवश्यकता नहीं है।"[76] रेन वेलक का इस परिप्रेक्ष्य में यह कथन महत्त्वपूर्ण है - "संक्षेप में यह व्यापक भाव था कि स्वच्छंदतावाद का अंत हो गया है। नये युग का उदय हो गया है, जिसका संबंध यथार्थ, विज्ञान और इस लोक से है। इसी तरह हम अनुभव के आँकड़े भी दे सकते हैं कि आठवें-नवे दशक में यथार्थवाद और प्रकृतिवाद अपना खेल खेल चुके थे और इनका स्थान नयी कला लेने लगी थी जो प्रतीकात्मक, नवस्वच्छंदतावादी थी या जिसे किसी नाम से पुकारा जा सकता है।"[77] स्वच्छंदतावाद यथार्थवाद के विरोध में नहीं जाता और वह यह भी दावा नहीं करता है कि वह अपनी परिधि में सार्वभौम यथार्थवाद को घेर रहा है। वस्तुतः स्वच्छंदतावाद अपने में यथार्थवाद को मिला लेता है या एक विशेष प्रकार के यथार्थ के रूप में परिवर्तित कर देता है।

मार्क्सवादी आलोचना के प्रमुख आलोचक डॉ. शिवदानसिंद चौहान, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. प्रकाशचंद्र गुप्त, अमृतराय तथा डॉ. नामवर सिंह हैं जिन्होंने हिंदी-आलोचना में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद पर आधृत आलोचना को गति दी है। इनके अतिरिक्त रांगेय राघव, चंद्रबली सिंह, डॉ. शिवकुमार मिश्र आदि ने भी प्रगतिवादी-आलोचना को व्यवस्थित धरातल प्रदान किया है। डॉ. शिवदानसिंह चौहान प्रेमचंद के पश्चात् 'हंस' का संपादन सूत्र संभालकर 'हंस' में 'प्रगति अंक' से आलोचनारंभ किया। उनका कहना है, "साहित्य कला मनुष्य की संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट या सार भाग है। निरपवाद रूप से व्यक्ति और समाज दोनों के भावी प्रगति के योग-क्षेम की दृष्टि से जैसे कला और साहित्य का नव-निर्माण प्रयोजनीय है वैसे ही उसके व्यापक मानव-मूल्यों का निर्धारण भी उतना ही प्रयोजनीय है।"[78] डॉ. चौहान प्रगतिवाद को साहित्य की धारा न मानकर भौतिकवाद दृष्टिकोण स्वीकार करते हैं जो जीवन तथा सामाजिक विकास के आधुनिकतम वैज्ञानिक मानव-मूल्यों पर आधृत है। मार्क्सवादी-आलोचना की मूल चेतना वर्गविशेष चिंतन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में कह सकते हैं कि डॉ. शर्मा आधुनिक हिंदी-आलोचना को मार्क्सवादी पद्धति के आधार पर नूतन आयाम देते हैं तथा जनवादी मान्यताओं, समष्टिहित-मूल्यों, प्रचार शक्ति से युक्त अवधारणाओं को लोकमंगल की कामना से सराबोर करने का प्रयास करते हैं। कहना न होगा कि उनके पूर्व हिंदी-आलोचना मुख्यतः कविता की आलोचना थी, लेकिन शर्मा जी ने कविता, कथा साहित्य, नाटक, निबंध तथा आलोचना आदि विधाओं पर डटकर मार्क्सवादी आलोचना पद्धति को पुष्ट बनाया है।

प्रकाशचंद्र गुप्त मार्क्सवादी आलोचना पद्धति के प्रामाणिक आलोचक है जिन्होंने आलोचना के सिद्धांतों की कसौटी सामाजिक प्रवृत्तियों को स्वीकार किया है। आलोचना जगत् में गुप्त जी यथार्थवादी दृष्टिकोण का मंडन तथा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण का खंडन स्वीकार करते हैं, जिसकी मूल प्रेरणा संघर्ष में निहित है। सामाजिक दायित्व में उसका संकल्प तथा वर्ग संघर्ष में उनकी भूमिका स्थित है। अतएव गुप्त जी की आलोचना पद्धति मुख्यतया द्वंद्वत्मक भौतिकवाद से अनुप्राणित है, जिस पर मार्क्सवाद का प्रभाव लक्षित होता है। वह जीवन-मूल्यों में सत्यं शिवं सुंदरं के सार्वभौमिक-शाश्वत स्वरूप को प्रकारंतर से विकासशील और गतिमान मानने के पक्षधर है। वह समाज-व्यवस्था को उत्पादन के साधनों पर आधृत मानते हुए जगत् का विकास दो शक्तियों के टकराव से स्वीकारते हैं। उनके अनुसार "उत्पादन के साधनों में निरंतर परिवर्तन होता है, किंतु सामाजिक संबंध एक हद तक स्थिर हो जाते हैं। उन्हें बदलने के लिए क्रांति होती है।"[79] गुप्त जी युग विशेष में अंतर्विरोध की स्थिति स्वीकारते हैं तथा प्रगतिशील तत्त्वों का अन्वेषण मार्क्सवादी आलोचक का दायित्व ठहराते हैं जिसका मूल्यांकन जन-कल्याण में सभाहित है। उन्होंने मार्क्सवादी आलोचना के विषय में अभिमत प्रकट किया है कि "मार्क्सवादी

आलोचक कला को संपूर्ण सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था और उसके विकास का एक अंग मानते हैं। वे कला तो उसके ऐतिहासिक ढाँचे में रखकर देखते हैं। व्यक्ति की प्रतिभा स्वीकार करते हुए वे, उन परिस्थितियों की विवेचना करते हैं जो कलाकार के व्यक्तित्व को अनुप्राणित करती है अथवा कुंठित करती है।"[80] इंद्रनाथ मदान गुप्त जी की आलोचना पद्धति की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि, प्रकाशचंद्र गुप्त की आलोचना पद्धति की विशेषता इसमें है कि वह जनवादी तथा जनविरोधी प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति को कृति विशेष में शुद्ध रूप में नहीं मानते और उनकी जटिलता को समग्र रूप में ग्रहण करने की क्षमता रखते हैं। इसलिए उनकी आलोचना यांत्रिक न होकर गत्यात्मक रूप धारण कर लेती है जो मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि के अधिक निकट है।"[81] कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि गुप्त जी के आलोचनात्मक ग्रंथों में मार्क्सवादी-जनवादी परंपरा से प्रभावित ग्रंथ 'आधुनिक हिंदी साहित्य', 'हिंदी साहित्य की जनवादी परंपरा' तथा 'साहित्य धारा' मुख्य हैं जो आलोचक प्रकाशचंद्र गुप्त के मार्क्सवादी पद्धति को प्रतिबिंबित करते हैं।

अमृतराय अपनी प्रमुख प्रगतिवादी कृतियों के माध्यम से मार्क्सवादी आलोचना पद्धति का विकास करते हैं जिनमें साहित्य में संयुक्त मोर्चा' तथा 'नयी समीक्षा' उल्लेखनीय है। पहली कृति में उन्होंने प्रगतिवादी आंदोलन के उद्भव और विकास पर आलोचनात्मक विवेचना प्रस्तुत की है तथा 'नयी समीक्षा' में मार्क्सवादी आलोचना पद्धति के साथ-साथ समाजवादी यथार्थवाद, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, अमेरिकी साम्राज्यवाद तथा गोर्की पर जमकर विचार प्रस्तुत किया है। वे साहित्य का समाज से अनिवार्य अटूट संबंध स्वीकारते हैं। साहित्य समाज के बिना पंगु है और समाज साहित्य के बिना मूक। उनका कहना है कि साहित्यकार "जिस समाज का प्राणी होता है, जिन परिस्थियों में वह सोता-जागता, उठता-बैठता तथा जीवकोपार्जन करता है, उनसे प्रभावित हुएबिना उसका साहित्य नहीं रह सकता। परिस्थितियाँ विचारधारा पर प्रभाव डालती हैं और विचारधारा परिस्थितियों पर। दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध है। समाज का प्रभाव साहित्यकार पर पड़ता है और साहित्यकार का प्रभाव समाज पर - यही मार्क्सवादी-आलोचना का बीज है।"[82] स्पष्ट है कि अमृतराय अपनी मार्क्सवादी-आलोचना पद्धति में मार्क्स और गोर्की के प्रभाव से ग्रसित प्रतीत होते हैं।

डॉ. रांगेय राघव, हिंदी-आलोचना के उद्भट आलोचक, मार्क्सवादी आलोचना पद्धति से आलोचना विकास-रेखा को बल प्रदान किया है। उनके प्रमुख आलोचना ग्रंथों में 'आधुनिक हिंदी कविता में प्रेम और शृंगार' तथा 'प्रगतिशील साहित्य के मानदंड' मार्क्सावदी पद्धति पर आधारित है। उनका रस का विवेचनात्मक अध्ययन उल्लेख्य है। वह उदार प्रकृति के साथ साधारणीकरण की व्याख्या करते हैं तथा रस-सिद्धांत का निरूपण करते हैं। सौंदर्यशास्त्रियों की प्रज्ञा पर वाक्य वाण छोड़ते हैं जो वर्ग-संघर्ष का नारा बुलंद करते हैं। वे वर्ग-संघर्ष को केंद्र-बिंदु मानते हुए भी सर्वदा उसी की अनिवार्यता नहीं स्वीकार करते। " मार्क्स के सिद्धांत का यह अर्थ नहीं कि वह अपरिवर्तनीय रूप से अक्षरतः सब पर लागू हो जाये - गत्यात्मकता मूल नियम है। प्रत्येक देश के साहित्य में विभिन्न विशेषतायें होती हैं, अ में भेद रहते हुए भी एक सार्वभौम मानवीयता उनके भीतर रहती है, जो शताब्दियों को भेद जाती है। तभी यूनान का होमर हजारों वर्षों के उपरांत भी आज आनंद देता है। उसमें जो 'वह' है जो 'आनंद' देती है वह उसकी 'मानवीयता' है, जो हमारे 'भावों' को समाती है, जगाती है और वह भव्य आनंद ही 'रस' है।"[83] श्री राघव की आलोचना पद्धति में सैद्धांतिक पर विशेष बल है। "मार्क्सवाद में ऐतिहासिक भौतिकवाद का आधार द्वंद्ववाद, वर्ग संघर्ष, अर्थधारिता शोषण, उत्पादन साधनों का परिवर्तन आदि माना गया

है। सैद्धांति रूप से ये सारी मान्यतायें डॉ. रांगेय राघव को स्वीकार है।"[84] इस प्रकार कहा जा सकता है कि राघव जी की दृष्टि में कला का मूल बीज वेदना में है। वे जनकल्याण के सच्चे हिमायती तथा वर्गहीन, शोषण विहिन समाज की स्थापना के आकांक्षी आलोचक हैं।

डॉ. नामवरसिंह मार्क्सवादी-आलोचना के उन क्रांतिकारी विचारोंवाले आलोचकों में से हैं जिन्होंने निरंतर प्रतिक्रियावादी सिद्धांतों के विरुद्ध संघर्ष किया है। उनकी आलोचना पद्धति मार्क्सवादी दृष्टि से रूपायित है, जिसका परिचय उनके आलोचनात्मक ग्रंथ 'छायावाद', 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', 'कहानी : नयी कहानी', 'कविता के नये प्रतिमान', 'इतिहास और आलोचना' तथा 'दूसरी परंपरा की खोज' आदि में मिलता है। यही कारण है कि डॉ. विजय मोहन सिंह ने 'पूर्वग्रह' अंक 44-45 में डॉ. नामवरसिंह को आचार्य शुक्ल और आचार्य वाजपेयी से आती हुई आलोचना परंपरा का समीक्षक घोषित किया है। "यद्यपि डॉ. नामवरसिंह प्रगतिशील तथा मार्क्सवादी समीक्षक के रूप में विख्यात है, वे मूलतः हिंदी समीक्षा की उस परंपरा से आते हैं जो आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा आचार्य नंददुलारे वाजपेयी से होती हुई उन तक पहुँचती है। वाजपेयी जी की तरह वे मुख्यतः अपने समय के साहित्य के व्यावहारिक समीक्षक हैं और शुक्ल जी की भाँति उनमें अंतर्विरोधों को समझने की दृष्टि तथा स्थापनाओं के रूप में समन्वय के प्रयास हैं।"[85]

डॉ. नामवरसिंह का कहना है कि मार्क्सवादी अभियान में जनता के सहयोग से मध्यवर्ग ने सामाजिक तथा साहित्यिक क्षेत्र में असाधारण प्रगति की है। वह विकासशील और अस्थायी को महत्त्व की वस्तु समझते हुए काव्य की प्रवृत्तियों का मूल्यांकन मार्क्सवादी आधार पर करते हैं। वह साहित्य में यथार्थवादी मूल्यांकन के पक्षधर हैं तथा भावुकता के परम विरोधी हैं। समाज और साहित्य का अन्योन्याश्रित संबंध स्वीकार करते हैं। वास्तव में "सामयिकता के माध्यम से ही शाश्वत साहित्य की रचना की जा सकती है। अपने समय से अलग रहकर अथवा भागकर कोई शाश्वत साहित्य की रचना नहीं कर सकता।"[86] वे साहित्यिक अतिवैयक्तिकता, समाज विरोधी प्रवृत्तियों तथा मात्र कौशल के भी विरोधी हैं। वे अभिव्यक्ति लाचारी तथा कथ्य की कमी के कारण अपने खेमे के आलोचकों की भी कटु-आलोचना में संकोच नहीं करते हैं, "प्रगतिशील काव्य तथा कथा-साहित्य के नाम पर भी इसी तरह कोरे मार्क्सवादी विचारकों की अभिव्यक्ति हुई है। क्या विषय-वस्तु पर जोर देने का अर्थ यही है? क्या कविता में महान् विचारों की अभिव्यक्ति का ढंग यही है? जवाब साफ है। स्वयं इन रचनाओं के कृति कवि और लेखक ही इनको हेय मानेंगे।"[87] डॉ. सिंह ने मार्क्सवादी पद्धति को अपनी आलोचना पद्धति में आदर्श रूप देकर प्रस्तुत किया है। इसीलिए, "उन्हें मार्क्स के द्वंद्ववादी, ऐतिहासिक भौतिकवादी तथा वर्ग-संघर्ष की मान्यतायें स्वीकृत हैं यह दूसरी बात है कि उन्होंने इन सारी मान्यताओं का अन्य प्रगतिशील समीक्षकों के समान हिंदीकरण करने का लोभ संवरण कर लिया है। इन मान्यताओं के सूत्र उनकी समीक्षाओं में यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं और सबसे बड़ी बात यह है कि इन मान्यताओं का समीक्षा के क्षेत्र में सफल प्रयोग।"[88]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि डॉ. सिंह आधुनिक हिंदी-आलोचना के जागरूक प्रहरी है जिन्होंने मार्क्सवादी-आलोचना पद्धति के माध्यम से न केवल आलोचना में नया0प्रतिमान स्थापित किया है, अपितु मार्क्सवादी आलोचकों तथा 'वाद' समीक्षकों की भी अच्छी खबर लेकर दिशा निर्देश दिया है। उन्होंने साफ कहा है कि वास्तविकता यह है कि हिंदी में साहित्य रचना के क्षेत्र में जितने 'वाद' नहीं हैं, उनसे कहीं अधिक आलोचना

में पढ़ाये जा रहे हैं। जितनी जल्दी यह बकवास बंद हो, उतनी ही अच्छा हो। साहित्य का कल्याण इसी में है। कहना न होगा कि वादों की चर्चा प्रसंगानुकूलता के बोध की आज कितनी आवश्यकता है।"[89] 'कविता में नये प्रतिमान' आलोचना पुस्तक में डॉ. सिंह ने कविता क्या है? रस के प्रतिमान की प्रसंगानुकूलता, मूल्यांकन की समस्या, काव्यभाषा और सृजनशीलता, काव्य बिंब और सपाट बयानी, विसंगति और विडंबना, अनुभूति की जटिलता और तनाव आदि आलोच्य बिंदुओं पर मार्क्सवादी विचारधारा से अनुप्रणित आलोचना प्रस्तुत की है। प्रतिमान में डॉ. सिंह ने "कविता के जिन नये प्रतिमानों को रेखांकित किया है, वे यथार्थवादी कविता के प्रतिमान हैं। इन प्रतिमानों पर उन्होंने प्रगतिवादी और प्रयोगवादी इन दोनों धाराओं के कवियों की परीक्षा की है और उसमें प्रायः सर्वत्र प्रगतिवादी कवियों को खरा तथा प्रयोगवादी कवियों को खोटा पाया है।"[90] सर्वविदित है कि डॉ. नामवरसिंह मार्क्सवादी-आलोचना पद्धति के गौरवशाली आलोचक हैं जिन्होंने आलोचना में नये प्रतिमान स्थापित करके आलोचना विधा को समृद्ध बनाने में भरपूर योगदान दिया है।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि शुक्लोत्तर पीढ़ी के मार्क्सवादी आलोचकों ने आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिशीलता का एक नया दौर शुरू किया जिसके अध्यक्ष प्रेमचंद ने 1936 ई. में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना की थी। इन आलोचकों ने मार्क्सवाद का सहारा लेकर आलोचना-जगत् में पदार्पण किया। मार्क्सवादी प्रमुख आलोचकों में डॉ. शिवदान सिंह चौहान, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. नवल, डॉ. प्रकाशचंद्र गुप्त, विमल शर्मा, सुरेंद्र चौधरी, अवधनारायण, सकलदेवी सिंह, मार्कण्डेय, भैरवप्रसाद गुप्त, शिवप्रसाद सिंह, मैनेजर पाण्डेय, कर्णसिंह चौहान, सुधीश पचौरी, चंचल चौहान, जबरीमल्ल पारीख, डॉ, गोपालकृष्ण शर्मा, सूरज पालीवाल, अमृतराय, डॉ. रांगेय राघव, डॉ. नामवरसिंह, डॉ. शिवकुमार मिश्र आदि आलोचना-जगत् में अपनी नूतन पद्धति के माध्यम से नया प्रतिमान स्थापित कर हिंदी-आलोचना की विकास रेखा को विकसित व समृद्ध करते हुए यथार्थोन्मु ख की धारणा से और आगे बढ़ाया। इन आलोचकों ने साहित्य और समाज का अटूट, अभिन्न, अपरिमित संबंध की घोषणा की, जिससे अधिकांश आलोचक सजग हो गये और उनके निर्देशन से सार्वभौमिक शाश्वत साहित्य की रचना की जिनकी मान्यतायें कल थीं, आज भी हैं और कल भी रहेंगी।

**रसवादी आलोचना**

आधुनिक हिंदी-आलोचना में रसवादी-आलोचना को कुछ एक आलोचकों ने सौष्ठव एवं स्वच्छंदतावादी-आलोचना पद्धति के अंतर्गत स्वीकार किया है - कुछ एक ने सौंदर्यवादी तथा समन्वयवादी पद्धति के अंतर्गत। वास्तव में यह आलोचना एक स्वतंत्र पद्धति के रूप में विकसित हुई है। इस पर पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के प्रभाव के साथ भारतीय संस्कृत काव्यशास्त्रियों का प्रत्यक्ष प्रभाव भी परिलक्षित होता है। भरत सूत्र के व्याख्याता - भट्ट लोलट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनव गुप्त आदि आचार्यों ने जिस रसवादी परंपरा को आगे बढ़ाया था उसे - अनेक आचार्यों को विरोध भी सहन करना पड़ा जिनमें भामह, दंडी, वामन तथा कुंतक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। अंततोगत्वा अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि के उथल-पुथल के पश्चात् रस को काव्य की आत्मा कहकर पुकारा गया और आचार्य विश्वनाथ ने रसवाद की स्थापना की। 'काव्यप्रकाश', 'साहित्य-दर्पण', 'रस-गंगाधर' तथा 'ध्वन्यालोक' आदि संस्कृत के प्रौढ़ कृतियों का आलोड़न-विलोड़न करके हिंदी आचार्यों ने रसवादी परंपरा का सूत्रपात आधुनिक हिंदी-आलोचना में किया जिसमें आचार्य शुक्ल, आचार्य वाजपेयी, आचार्य द्विवेदी, डॉ. नगेंद्र तथा डॉ. राकेश गुप्त आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

रसवादी इन आचार्यों ने शैली को नवीनता प्रदान किया लेकिन विषय-सामग्री की दृष्टि से प्राचीन परंपरा का निर्वहन भी किया इनमें एक मिश्रित वृत्ति का भाव परिलक्षित होता है जिसमें आधुनिक मनोविज्ञान, पाश्चात्य काव्य-समीक्षा, सौंदर्यशास्त्र तथआ कुछ सीमा तक सामाजिक संदर्भ भी समन्वित हैं। पं. पुरुषोत्तम चतुर्वेदी का 'हिंद रस-गंगाधर', पं. हरिमंगल मिश्र का 'काव्यप्रकाश', डॉ. नगेंद्र का 'रस-सिद्धांत' - मानक ग्रंथ के रूप में इस आलोचना पद्धति के लिए वरदान सिद्ध हुए हैं। आचार्य शुक्ल की कृति 'रस-मीमांसा' हिंदी आलोचना में अपना स्थान पहले ही बना चुकी थी। आचार्य शुक्ल के शब्दों में जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय को स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भूमि पर ले जाती हैं जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किए रहता है। स्पष्ट है कि रसानुभूति के स्तर लोकसत्ता में लीन होना ही समन्विता होता है। अतएव रसवादी पद्धति यहीं पर प्रारंभ हो जाती है।

शुक्ल पूर्व आलोचना में रसवादी प्रवृत्तियाँ वहीं परिलक्षित होती हैं। जो भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से प्रारंभ होती हैं रस का दोनों रूप आस्वाद्य और आस्वाद - व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ उसमें देखने को मिलता है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' तथा 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यं' - की परंपरा का समन्वित रूप इस युग की आलोचना में मिलता है। रस-सिद्धांत तो काव्य मूल्यांकन का प्रतिमान इस युग में पूर्णतः घोषित हो चुका था। यही कारण है कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की स्थापना भी इसी आशय को इंगित करती है। उनकी धारणा है कि "रस ही कविता का सबसे बड़ा गुण है।"[91] डॉ. नगेंद्र के मतानुसार "वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र का पर्यालोचन करते हुए किसी भी प्रबुद्ध आलोचक को अनायास ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका मेरूदंड रस-सिद्धांत ही है और उसमें इतनी क्षमता है कि प्रत्येक युग तथा प्रत्येक देश के साहित्य का मार्मिक मूल्यांकन कर सके।"[92]

शुक्लपूर्व आलोचना में अधिकांश आलोचकों ने बड़ी शास्त्रनिष्ठ रसवादी परंपरा को अपनाया है जो संस्कृत काव्यशास्त्र की रही है। मध्ययुगीन कवियों ने जो रस को अलौकिक, आनंद रूप तथा ब्रहास्वाद सहोदर करार दिया है - वही परंपरा है, जो मुख्यतः संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा पर अवलंबित है। आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, डॉ. भगवानदास, डॉ. श्यामसुंदर दास आदि आचार्यों ने रसवादी परंपरा को इसी क्रम में आगे बढ़ाया है। अभिनव गुप्त से लेकर पंडित राज जगन्नाथ तक की परंपरा में आनंद को ही रस का पर्याय घोषित करने की चेष्टा रही है। हिंदी आलोचकों ने भी प्रकारांतर से ही इसी सिद्धांत का पोषण किया है।

डॉ. श्यामसुंदर दास रसवादी परंपरा के शुक्लपूर्व युग के प्रमुख आलोचक हैं जिन्होंने काव्य मूल्यांकन का प्रतिमान रस को ही सिद्ध किया है। उनका रसवाद सौंदर्यवाद से मेल खाता है। 'रस और शैली' का विवेचन करने से पूर्व बाबू साहब ने साहित्य की मूल मनोवृत्तियों और उसके द्विविध पक्ष, काव्य के तत्त्व संगठन और अंतःकरण की वृत्तियों तथा बुद्धि, कल्पना और मनोवेगों का विश्लेषण, किया है, जिसका मूल उद्देश्य यह है कि पाठक रस के मूल भावों या मनोविकारों तक पहुँच सके और इसकी भित्ति पर रस-निष्पति को समझ सके। उन्होंने मानवीय भावों का मुख्यतः इंद्रियजनित, प्रज्ञात्मक और गुणात्मक के भेदों में विभक्त कर उनके सहायक विभा, अनुभाव और संचारी भावों का सामान्य परिचय देने के बाद भरतमुनि के रस-निष्पत्ति विषयक सिद्धांत की विस्तृत विवेचना की है जो हमारे सम्मुख रस-सिद्धांत की व्यापकता और गंभीरता प्रस्तुत कर देती है। इसी

प्रसंग में भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद, शंकुक के अनुमितिवाद, भट्ट नायक के मुक्तिवाद और अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद की सैद्धांतिक चर्चायें भी हैं, जिनमें भरतमुनि के रससूत्र का विश्लेषण विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं को आधार बनाकर किया गया है। बाबू जी ने पं. केशवप्रसाद मिश्र द्वारा प्रतिपादित 'मधुमती भूमिका' और 'पर प्रत्यक्ष' की विचारधारा भी उद्धृत भी है, जिसके अनुसार रस का आनंद अलौकिक, अति-प्राकृतिक अथवा असामान्य सिद्ध होता है। बाबू जी रस की निष्पति उस अतिरेकता में स्वीकार नहीं करते। उन्होंने रस को 'पर प्रत्यक्ष गम्य' (सुपर सेंसुअस) माना है और अपने निर्णय में आधुनिक मनोविज्ञान का भी समावेश किया है।"[93] सौंदर्यानुभूति ही यहाँ पर रसानुभूति बन गयी है।

साहित्य की मूल मनोवृत्तियों के विवेचन में डॉ. श्यामसुंदर दास ने रस और वेज्ञानिक, ध्वन्यात्मक अथवा कलात्मक जिसमें नैतिकता का प्रश्न पृथक नहीं रहता, 'ध्वनि' में अवसित हो जाता है। इनमें पहला भट्ट नायक के 'मुक्तिवाद' के अनुकूल पड़ता है और दूसरा अभिनवगुप्त के ध्वनिवाद से संबंधित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त विद्वान् पहले प्रकार के समर्थक हैं किंतु हम आचार्य अभिनव गुप्त का मत मानते हैं। साधारणीकरण तो कवि अथवा भावक की चित्तिवृत्ति से संबंध रखता है। चित्त के एक तान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।"[94] शुक्लपूर्व युग में रस-संप्रदाय के पोषक आलोचक पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन आदि ने परंपरा से थोड़ा हटकर रसवादी रुझान का परिचय दिया है। इन आलोचकों ने शृंगाररस को ही केंद्रबिंदु मानकर आलोचना की रसवादी विचारधारा को एक नया आयाम देने का उपक्रम किया है। देव और बिहारी के विवाद में इन आलोचकों ने रस को ही काव्य प्रतिमान स्वीकार्य किया है। "फिर भी पंडित जी के समक्ष प्राचीन लब्ध प्रतिष्ठित ग्रंथों के वे उत्कृष्ट छंद थे, जिनके काव्य सौंदर्य की उत्कृष्टता के प्रमाण-पत्र संस्कृत के आनंनदवर्द्धनाचार्य, मम्मट आदि आचार्यों द्वारा मिल चुके थे। अनेक छंद आज से कई शताब्दी पूर्व ही उत्तम काव्य के उदाहरण घोषित हो गये थे। इनके छंदों की श्रेष्ठता की गहरी छाप सहृदय समाज पर लग गयी थी। सहृदय समाज चिरकाल से इन छंदों को भाव-विभोर होकर गुनगनाता और इनका रसास्वाद लेता चला आ रहा था। ऐसे छंदों की तुलना में भाषा के दोहों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर देना कोई साधारण कार्य नहीं है। इस कार्य में असाधारण पांडित्य के अतिरिक्त उच्चकोटि की सहृदयता भी अपेक्षित है। छंद के भावसौंदर्य, उसके अंतस्तल में प्रवाहित रस-धारा, वर्ण्य-विषय तथा भाव के अनुरूप शैली, शब्दार्थ के विलक्षण चमत्कार और अर्थगांभीर्य का साक्षात्कार करानेवाला आलोचक ही इस सूक्ष्म अंतर को समझ सकता है। शर्मा जी में हमें ऐसी ही प्रतिभा और सहृदयता के दर्शन होते हैं।"[95]

शर्मा जी की आलोचना में तुलना की पद्धति सर्वत्र परिलक्षित होती है। यही कारण है कि इनकी आलोचना को निर्णात्मक कहा गया है। ''शर्मा जी ने काव्य शरीर के सौष्ठव के सभी पक्षों को देखा है और उनका पैनी दृष्टि से विवेचन किया है। शर्मा जी मुक्तक काव्य के प्रतिमानों से ही प्रभावित थे।"[96] मिश्रबंधुओं की आलोचना भी रसवादी परंपरा को आगे बढ़ानेवाली आलोचना है। कृष्णबिहारी मिश्र की आलोचना में हमें रसवाद की धारा प्रवाहित होती हुई प्रतीत होती है। मिश्र जी कविता का उद्देश्य आनंद-प्राप्ति तथा आनंद रस के परिपाक से ही प्राप्त हो सकता है - स्वीकार किया है। शृंगार रस राज है तथा शृंगारिक कवियों के नेता देव और बिहारी इसी कारण सर्वश्रेष्ठ हैं। मिश्र जी ने स्वयं रसवाद को 'देव और बिहारी' पुस्तक में रेखांकित किया है। 'उनके अनुसार गुणाधिक्य, अलंकार-बाहुल्य, रस परिपाक एवं भाव चमत्कार कविता की उन्मत्तता की कौसटी रहनी चाहिए।"[97]

रस ही काव्य का प्राण तत्त्व है जिस पर काव्य मूल्यांकन का प्रतिमान निर्धारित होता है। हिंदी-आलोचना को सर्वप्रथम साहित्यिक रूप प्रदान करनेवाले आलोचक इस युग में मात्र शुक्ल जी ही थे जिन्होंने आलोचना का निश्चित मानदंड स्थापित किया तथा रस को मूल्यांकन का आधार घोषित किया। "वे हमारे हिंदी साहित्य के एकमात्र ऐसे समालोचक हैं जिनके द्वारा अन्य समीक्षकों ने सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष के संतुलित संगठन और अपेक्षित संयोजन का सार प्राप्त किया है।"[98]

कुशल आलोचक की तरह इतिहास बोध, पैनीदृशष्टि, गहरी रसज्ञता तथा नवीन पद्धति का सूत्र संचालन आचार्य शुक्ल ने बदलती हुई परिस्थितियों में सामाजिक चेतना के आलोक में लोक जीवन से संबद्ध कर आलोकित किया। रसवादी होते हुए भी आचार्य शुक्ल का आलोचक रूप "एक ओर हिंदी-आलोचना के सही मार्ग पर अग्रसर कर अपने को और हिंदी-आलोचना को परंपरा से अलगाता है, दूसरी ओर अपनी शक्ति से हिंदी-आलोचना को एक ऐसे शिखर पर पहुँचा देता है जहाँ से हिंदी-आलोचना आगे तो बढ़ती है लेकिन ऊपर नहीं उठती। इस प्रकार शुक्ल जी अपने आप में एक ऐसे शिखर बन जाते हैं जो पूर्ववर्ती और परवर्ती आलोचना-यात्राओं के बीच अवस्थित है जो एक ओर अपनी ऐतिहासिक महत्ता को उद्घटित करता है, दूसरी ओर अपनी मूल्यगत ऊँचाई को।"[99]

आचार्य शुक्ल को हिंदी-आलोचना का युग प्रवर्तक आलोचक स्वीकारते हुए रसवादी प्रवृत्तियों को आचार्य वाजपेयी ने रेखांकित किया है। "हिंदी-आलोचना का इस आरंभिक किंतु नवचेतन अवस्था में पं. रामचंद्र शुक्ल का आगमन हुआ। उन्होंने रस और अलंकारशास्त्र को नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हें ऊँची मानसिक भूमि पर ला बिठाया। इस प्रकार रस और अलंकार हिंदी समीक्षा से बहिष्कृत होने जाने से बचे।"[100] सहगल ने ठीक कहा है कि 'समीक्षा के क्षेत्र' में उनकी सबसे बड़ी देन है पौवार्त्य तथा पाश्चात्य सिद्धांतों का समन्वय करते हुए रस-सिद्धांत की स्थापना।

आचार्य शुक्ल की आलोचना में रसवादी प्रवृत्तियाँ सामंजस्य का स्वर ध्वनित करती हैं। शुक्ल जी के लोक धर्म में विभिन्न धर्मों का समन्वय है। सामंजस्य ही, समन्वय ही रस है जिसमें लोक मंगल की भावना निहित है। ज्ञान, कर्म और भाव का समन्वय ही काव्य है जो रसानुभूति कराता है। आचार्य साधारणीकरण में ही काव्य का गुण स्वीकारते हैं। "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती है।[101] "इस भूमि पर पहुँचते ही मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किये रहता है।"[102] कवि की अनुभूति आचार्य शुक्ल की आलोचना में रसवादी प्रवृत्ति बन जाती है। रस दशा को विश्लेषित करते हुए उन्होंने लिखा है कि "रस दशा में अपनी पृथक सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है, अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से संबद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योग क्षेम की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते।"[103]

आचार्य शुक्ल रसानुभूति का प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक कोई अंतर्वृत्ति नहीं मानते थे। "शुक्ल जी ने रस को व्यक्ति की अनुभूति जब लोकसामान्य की अनुभूति हो जाती है, जिसका आलंबन सर्वसाधारण का आलंबन हो जाता है जो अनुभूति निविशेष और विशुद्ध होती है उसी को शुक्ल जी रसानुभूति मानते हैं। इसमें वे काव्य अथवा जगत् का अंतर नहीं करते। ऐसी अनुभूति जगत् में भी होती है और शुक्ल जी

उसका भी रसानुभूति ही मानते हैं। 'गोस्वामी तुलसीदास' भ्रमरगीत सार की भूमिका, जायसी ग्रंथावली की भूमिका, चिंतामणि, रस-मीमांसा, हिंदी साहित्य का इतिहास आदि कृतियों में उनके रसवादी दृष्टिकोण का पोषण हुआ है।

डॉ. नगेंद्र के मतानुसार आचार्य रामचंद्र शुक्ल रस-सिद्धांत को एक सार्वभौम साहित्य के रूप में विकसित करने की कल्पना कर रहे थे। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में भी कल्पना और अनुभूति तत्व का आरंभ से ही प्रधान्य रहा है। सहस्त्राब्दियों के मंथन तथा सैद्धांतिक संघर्ष के उपरांत वहाँ के मनीषियों का बहुमत भी अनुभूति के कल्पनात्मक आस्वाद को ही साहित्य का प्राण-तत्व मानने को बाध्य रहा है और अनुभूति के कल्पनात्मक आस्वाद की जैसी संश्लिष्ट एवं सर्वांगपूर्ण प्रकल्पना हमारे रस-सिद्धांत में निहित है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

शुक्ल कालीन युग में आचार्य शुक्ल के समक्ष रसावादी परंपरा को आगे बढ़ानेवाले आलोचकों में बाबू गुलाबराय, शिलीमुख एवं सुधांशु जी प्रमुख हैं। रस को मनावैज्ञानिक फलक प्रदान करनेवाले रस युग के रसवादी आलोचक अकेले शुक्ल जी ही छहरते हैं। उनमें युग संचालन की पूर्ण क्षमता थी। वे सशक्त थे तथा जो परंपरा उनको पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा रिक्त रूप में प्राप्त हुई थी, उसे उन्होंने एक नवीन मनोवैज्ञानिक धरातल प्रदान किया। इस प्रकार "शुक्ल जी ने समन्वयवाद और हिंदी समीक्षा के भावी विकास के लिए प्रौढ़ सैद्धांतिक आधार प्रदान किया।" आचार्य शुक्ल की आलोचना में रसवादी प्रवृत्तियों मनोवैज्ञानिक आधार पर आधृत हैं जो लोकमंगल की भावना से अनुप्राणित हैं। वे लोकमंगल एवं लोकरंजन के संदेश को साहित्य के लिए अनिवार्य एवं अपेक्षित मानते हैं जबकि उन्हीं के परंपरा के रसवादी आलोचक डॉ. नगेंद्र रसवाद को मनोविश्लेषणवाद के फलक पर प्रतिष्ठित कर आनंद एवं कल्याण को ही साहित्य का गुण एवं मुख्य प्रयोजन स्वीकारते हैं। "आचार्य शुक्ल ने शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा और उसके निर्वाह को काव्य का मूल प्रयोजन माना है। काव्य की मूलवत्ता, उसमें अंतर्मुक्त भाव संपदा पर ही मुख्यतया निर्भर करती है। भारतीय आचार्यों में भरत से लेकर आनंदवर्धन, अभिनव गुप्त और बाद में जगन्नाथ तक, कवियों में वाल्मीकि से लेकर रवींद्रनाथ तक और उधर पश्चिम में अरस्तु-लांजाइनस से लेकर आई. ए. रिचर्ड्स तक सभी ने इस मत का समर्थन किया है। मानव संवेदना पर आधृत होने के कारण ये रागात्मक प्रतिमान सार्वभौम तथा सार्वकालिक मानव-मूल्यों के अभिन्न अंग है।"[104]

हिंदी-आलोचना में रसवादी आलोचना पद्धति वह पद्धति है जिसमें साहित्य या कला आत्मानुभूति के रूप में विश्लेषित की गयी है। पाश्चात्य सौंदर्यामुभूति के तादात्म्य से रसानुभूति भारतीय काव्यशास्त्र की बहुचर्चित आलोचना पद्धति है। भरतमुनि से लेकर पं. राजगन्नाथ तक तथा आचार्य शुक्ल से डॉ. नगेंद्र तक की एक लंबी काव्य परंपरा इस आलोचना पद्धति से बंधी हुई है। संस्कृत के करीब-करीब सभी आचार्यों की आलोचना पद्धति रसवादी ही रही है। भट्ट लोल्लट, शंकुक, आचार्य मम्मट, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने इसी पद्धति को काव्य मूल्यांकन का प्रतिमान घोषित किया है। शुक्लोत्तर युग के रसवादी आचार्यों में आचार्य वाजपेयी, आचार्य द्विवेदी तथा आचार्य नगेंद्र हैं। डॉ. नगेंद्र का मानक ग्रंथ 'रस-सिद्धांत' इसका साक्ष्य प्रस्तुत करता है। मनोवैज्ञानिक धरातल पर रस की व्याख्या करनेवाले इस युग के सर्वश्रेष्ठ रसवादी आलोचक डॉ. नगेंद्र ही हैं। आत्मानुभूति, आत्माभिव्यक्ति, रसानुभूति, सौंदर्यानुभूति आदि को पर्याय घोषित करनेवाले आचार्य रसवाद के सबसे बड़े पोषक हैं। युग-युग से चिंतित रस सिद्धांत के पुनराख्यान द्वारा डॉ. नगेंद्र ने सार्वभौमिकता के तत्त्व को मानवीय अनुभूति और मानव संवेदना के मूल और शाश्वत आधार पर प्रतिष्ठापित करके कलात्मक सत्य के निकट पहुँचने का सशक्त प्रयत्न किया है।"[105]

डॉ. नगेंद्र रसवादी-आलोचना में बिंब और मिथक की भी चर्चा करते हैं। वैसे मिथकीय आलोचना की एक शैली अपना अस्तित्व बना रही है। साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है - में डॉ. नगेंद्र रसवाद को ही काव्यमूल्यांकन का प्रतिमान घोषित करते हैं। रस का मानव संवेदना से समन्वित करनेवाले आलोचक डॉ. नगेंद्र हैं। डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी का निबंध 'भारतीय रसशास्त्र के इतिहास में डॉ. नगेंद्र का स्थान', डॉ. मनोहर काले का निबंध 'रस-सिद्धांत परंपरा : डॉ. नगेंद्र का योगदान', डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी का निबंध, 'डॉ. नगेंद्र द्वारा भारतीय काव्यशास्त्र का आख्यान एवं पुनराख्यान', डॉ. निर्मला जैन का निबंध 'सार्वभौम काव्यशास्त्र की दिशा में', डॉ. देवराज उपाध्याय का निबंध 'रस-सिद्धांत' आदि रसवाद की ही पुष्टि करते हैं तथा आचार्य नगेंद्र को रसवादी पद्धति का आलोचक घोषित करते हैं।

डॉ. नगेंद्र रसवादी आचार्य हैं। उनका 'रस-सिद्धांत' आलोचकों के लिए मार्ग-प्रदर्शक हैं जिस पर काव्य मूल्यांकन संभव है। यह सार्वभौम सिद्धांत है जिसकी पुष्टि स्वयं डॉ. नगेंद्र ने अपनी इस कृति में की है। "शास्त्र-रूढ़ियों से मुक्त रस-सिद्धांत अपने व्यापक एवं विकासशील रूप में काव्य का सार्वभौम सिद्धांत है जिसके आधार पर प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में सर्जनात्मक साहित्य का, सर्जनात्मक साहित्य की प्रत्येक विधा का, उचित मूल्यांकन किया जा सकता है। इसकी प्रकल्पना इतनी सर्वांगीण है कि मानव चेतना की मूलवृत्ति राग को धुरी बनाकर यह सभी प्रमुख तत्त्वों को उचित रूप में स्वीकार कर चलता है। अतः जीवन के समस्त रूपों तथा विविध मूल्यों के साथ रस-सिद्धांत का पूर्ण सामंजस्य है जिसमें विभिन्न वादों के अंतर्विरोध समाहित हो जाते हैं।"[106] डॉ. नगेंद्र शुक्ल परंपरा के रसवादी आलोचक हैं। डॉ. जयचंद्र राय ने ठीक ही कहा है कि "समकालीन समीक्षकों में डॉ. नगेंद्र शक्ल जी के व्यक्तित्व के एक पक्ष के योग्य उत्तराधिकारी ठहरते हैं - वह पक्ष रसानंनदवाद का है।"[107] रस-सिद्धांत के अतिरिक्त रीतिकाव्य की भूमिका, देव और उनकी कविता, मिथक और साहित्य इस पद्धति के ग्रंथ हैं।

शुक्लोत्तर-आलोचना में रसवादी प्रवृत्तियाँ एक नवीन धरातल ग्रहण करती हैं। यहाँ पर आलोचना की एक प्रमुख धारा अनेक उप-धारा में विभाजित हो जाती है। फ्रायड का मनोविश्लेषणवाद, मार्क्स का सामाजिक यथार्थवाद एवं वर्ग-संघर्ष, क्रोचे का अभिव्यंजनावाद आदि मुख्य स्वर को ध्वनित करते हैं। इस युग के आलोचकों ने विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों को अंगीकार करके लेखनी चलायी है जिसके परिणामस्वरूप आलोचना की अनेक पद्धतियों का अभ्युदय हुआ। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की स्वच्छंदतावादी-सौष्ठववादी पद्धति ने रसवाद को विशेष कोण से परिभाषित किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मानवतावादी ऐतिहासिक सांस्कृतिक दृष्टि के माध्यम से साहित्य का प्रयोजन ही मनुष्य है - को उद्घोषित किया है। डॉ. राकेश गुप्त तथा डॉ. जगदीश गुप्त ने रसवादी पद्धति में आस्वाद्य पर विशेष बल दिया है। डॉ. नगेंद्र ने रसवाद को साहित्य का सार्वभौमिक निकष स्वीकार किया है। डॉ. रामविलास शर्मा तथा डॉ. नामवरसिंह रस-मीमांसा पर विशेष बल देने का प्रयास किये हैं। अतएव इस युग में रसवादी प्रवृत्तियों का क्रम विभिन्नता लिये हुए प्रतीत होता है। रसवादी परंपरा के प्रमुख आलोचकों में आचार्य वाजपेयी, आचार्य नगेंद्र, डॉ. राकेश गुप्त तथा डॉ. जगदीश गुप्त, ऋषि कुमार चतुर्वेदी, डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र कृष्णाशंकर शुक्ल, रामाशंकर शुक्ल 'रसाल' तथा भुवनेश्वर मिश्र, शंकरदेव अवतरे आदि हैं जिन्होंने इस आलोचना पद्धति को एक नयी दिशा दी है।

डॉ. राकेश गुप्त के अनुसार रसानुभूति में देशकाल की प्रतीति बाधक नहीं, साधक होती है। शकुंतलादि के साधारणीकृत होने के कारण नहीं बल्कि उनके व्यक्ति वैशिष्ट्य के कारण ही पाठक को रसानुभूति होती है। इस प्रकार पंडितराज के द्वारा लगाये गये आक्षेप का निवारण डॉ. राकेश गुप्त ने विशिष्टिकरण के माध्यम से किया है। उनकी यह स्थापना रस के आस्वादन के साथ-साथ ऐतिहासिक शंका का समाधान स्वतः कर देती है।

शुक्लोत्तर आलोचकों में डॉ. जगदीश गुप्त भी रसवाद का संदेश ध्वनित करने की चेष्टा करते हैं। रस के विरुद्ध में उन्होंने दो आक्षेप दिये हैं प्रथम कि रस सर्वत्र काव्य मूल्यांकन का प्रतिमान नहीं हो सकता। इसे साहित्य निकष के रूप में स्वीकारा नहीं जा सकता। दूसरा, रस की धारणा परिणाममूलक स्वीकारते हैं, प्रक्रियामूलक नहीं जैसा कि डॉ. नगेंद्र ने स्वीकारा है। अतएव इनका सीधा आक्षेप डॉ. नगेंद्र के रस-सिद्धांत की स्थापना से है। गंभीरता से विचार करने पर डॉ. गुप्त की ये दोनों अवधारणाएँ असत्य सिद्ध हो जाती हैं। "रस की मूल धारणा प्रक्रियामूलक ही है। भरत का रस सूत्र समस्त रस विवेचन का मेरुदंड है और उसमें रस-निष्पति की प्रक्रिया ही बतायी गयी है। यदि रस के स्वरूप को भली प्रकार समझ लिया जाय तो यह कहने का भी अवकाश नहीं रहता कि रस-सिद्धांत अधिकांश काव्य की कसौटी बनने में अक्षम है।"[108] इस प्रकार डॉ. जगदीश गुप्त के ये दोनों आक्षेप निराधार एवं पूर्वग्रह से सिक्त प्रतीत होते हैं।

रस को आस्वाद का पर्याय घोषित करनेवाले डॉ. राकेश गुप्त ने भरत की परंपरा का निर्वाह किया है। मनःरमण को भी आस्वाद में समन्वित एवं समंजित करते हुए उसका तादात्म्य करा दिया है। अतः रस, मनःरमण और आस्वाद इन तीनों का सामंजस्य एवं एकान्विति उनकी आलोचना एवं रस-विषयक अवधारणा में मिलती है।"[109] डॉ. गुप्त की सबसे बड़ी देन है कि उन्होंने रस-विवेचन को रूढ़ शास्त्रियता की जकड़बंदी से मुक्त करके एक ओर तो आचार्य भरत की स्वस्थ परंपराओं से जोड़ा, और दूसरी ओर मनोविज्ञान के आलोक में उसे ही हमें एक नूतन और वैज्ञानिक व्यवस्था प्रदान की। उन्होंने प्राचीन भारतीय रस-दृष्टि को पुनरुज्जीवित करके उसके आधार पर रीतिकालीन काव्य के पुनर्मूल्यांकन द्वारा व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में एक मानक की स्थापना की।"[110] यह निश्चित रूप से स्वागत योग्य है।

**शैली-वैज्ञानिक आलोचना**

शुक्लोत्तर हिंदी-आलोचना में शैली वैज्ञानिक आलोचना पद्धति का आविर्भाव साहित्यिक आलोचना को अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाने की गरज से हुआ है क्योंकि किसी भी युग की विचार प्रवृत्ति और चिंतन प्रणाली ही साहित्यिक आलोचना की सीमा-रेखा निर्धारित करती है। यही कारण है कि विभिन्न चिंतन पद्धतियों से ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र विकासोन्मुख हुआ और शुक्लोत्तर-युगीन साहित्यिक क्षेत्र में आलोचना की शैली-वैज्ञानिक पद्धति का प्रसार एवं प्रचार हुआ जो निरंतर फैलाव एवं व्यापकता तथा गहराई की ओर उन्मुख है। आधुनिक युग मूलतः वैज्ञानिक होने के कारण अन्य क्षेत्र की तरह आलोचना के क्षेत्र में भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण लागू किया जा रहा है तथा वैज्ञानिक आलोचना पद्धति पर विशेष बल दिया जा रहा है। शैली वैज्ञानिक आलोचना में साहित्य 'शाब्दिक कला' के रूप में ही ग्रहण किया जाता है जिसकी प्रवृत्ति हम प्राचीन साहित्य मनीषियों तथा भारतीय काव्यशास्त्रियों के मतों में देखते हैं। आचार्य भामह का 'शब्दार्थो सहितो काव्यम्', दण्डी का 'शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली', रुद्रनरननु का 'शब्दार्थो काव्यम्', कुंतक का 'शब्दार्थो सहितो वक्रकवि व्यापारशालिनी बंधे व्यवस्थितो

काव्यम्' आदि इसी शैली विज्ञान की पुष्टि करते हैं। "इसी प्रकार काव्य शैली का वस्तुपरक विवेचन भी रीति और विक्रोक्ति सिद्धांत के अंतर्गत मिल जाता है। विपथन, उपचार, चयन, शब्दविन्यास आदि का विवेचन भी आधुनिक विवेचन से बहुत कुछ मिलता-जुलता-सा ही हुआ है। सिद्धांत कथन में समानता होते हुए भी वास्तव में भेद पद्धति का रहा है। संस्कृत काव्यशास्त्र और उसी पर आधारित हिंदी काव्यशास्त्र भी काव्यभाषा के वैज्ञानिक विवेचन की पद्धति विकसित नहीं कर पाया। यह आधुनिक युग में शैली विज्ञान के माध्यम से ही संभव हो सका है। जब साहित्यिक भाषा की सौंदर्य शास्त्रीय, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक आदि आलोचनायें अपने आपको दुहराते-दुहराते थक गयीं और म्रियमाण-सी हो गयी, तब शैली विज्ञान का उदय हुआ जिसका बल कृति की रूपाकृति पर अधिक है। संभवतः इसीलिए अधिक प्रामाणिक है।"[111] इस प्रकार शैली वैज्ञानिक-आलोचना शुक्लोत्तर आलोचना की पद्धतियों में अपेक्षाकृत अधिक मनोवैज्ञानिक है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आलोचक जान क्रवे रैन्सम ने सन् 1941 ई. में नयी आलोचना (न्यू क्रिटिसिज्म) नामक पुस्तक में शिकागो स्कूल के आलोचकों की चर्चा की है जिसमें राबर्ट पेन वारेन, क्लीन्थलुक्स, एलनटेट, ब्लैकमर और आइवरविन्टर आदि आलोचकों ने काव्य के सभी बाह्य प्रतिमानों का विरोध कर कविता को मात्र कविता के रूप में देखा तथा उसका मूल्यांकन किया। कहना न होगा कि इन आलोचकों की आलोचना पद्धति भारतीय काव्यशास्त्र के प्राचीन आलोचकों के सन्निकट थी तथा शैलीवैज्ञानिक आलोचना पद्धति कहलाने की अधिकारिणी थी। नयी आलोचना के अनुसार 'कविता का स्वतंत्र और सुनिश्चित अस्तित्व है जो कवि तथा सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश से पृथक है। इस तरह नये आलोचक कविता को केवल कविता के रूप में देखते हैं और वे काव्य के सभी बाह्य प्रतिमानों के विरुद्ध हैं। क्लींथलुक्स ने 'वेलराट अर्न' में विभिन्न कालों की कविताओं का विश्लेषण करने का प्रयास किया है और उनके आधार पर काव्य के मूलभूत तत्त्वों को पहचानने की कोशिश की है। वह कहता है कि प्रत्येक काल की कविता में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो उन्हें कविता बनाये रखती हैं। इसीलिए कविता का एक सार्वभौम और सार्वकालिक प्रतिमान निश्चित किया जा सकता है।'[112] इस प्रकार यह नयी आलोचना पद्धति भाषिक-संरचना पर विशेष बल देने के कारण तथा शब्दों के मनोविज्ञान पकड़ने के कारण शैलीवैज्ञानिक आलोचना कही जाती है। काव्य के संबंध में मतभेद होते हुए भी काव्यभाषा तथा संरचना पर नये आलोचक एकमत हैं क्योंकि शुक्ल का विसंगति और विडंबना, टेट का तनाव, रैन्सम का टेक्चर और स्ट्रक्चर का तनाव तथा रॉबर्ट पेन वारेन का प्रतीक भिन्न अर्थ व्यंजित करते हुए भी "प्रत्येक व्यक्ति रचना की आंतरिक संगति (इण्टरनल कान्सिस्टैंसी) शब्दों के पारंपारिक संबंध या संरचना को ही काव्य कहता है।"[113] "आलोचना अपने आप में एक 'अनुशासन' और 'टेकनीक' है" की चर्चा करते हुए उसके वैज्ञानिक प्रणाली को साहित्यिक मान्यता प्रदान करते हुए डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव ने कहा है कि "जब आलोचना की टेकनीक और उस टेकनीक की वैज्ञानिकता की बात उठती है तो उसका मतलब साहित्य से है, उस कृति विशेष से है जिसका अध्ययन आलोचक को साध्य रहता है और उस अध्ययन के लिए अपनायी गयी उस कार्य प्रणाली से है जिसके सहारे वह साहित्यिक विशिष्टताओं पर प्रकाश डालता है। शैली-विज्ञान, साहित्यिक आलोचना का सिद्धांत है और प्रणाली भी। सिद्धांत के रूप में इसकी दृष्टि भाषावादी है। भाषावादी सिद्धांत के रूप में उसकी वह प्रमुख मान्यता है कि साहित्य 'शब्दिक कला' है और कृति के रूप में साहित्यिक रचना, भाषा की अपनी सीमा में बँधी एक स्वनिष्ठ इकाई है। साहित्यिक कृति भाषा को न केवल अभिव्यक्ति का माध्यम बनाती है अपितु स्वयं भाषा के भीतर ही अपना जन्म धारण करती है।"[114]

शैलीवेज्ञानिक आलोचना में आलोचक का चिंतन वस्तुपरक और आलोचनादृष्टि भाषावादी होती है। यही कारण है कि इस पद्धति के आलोचक कविता या कृति की आलोचना ठोस यथार्थ पर आधृत भाषा और शैली की सीमांतर्गत करते हैं। इसी प्रकार डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने अपने निबंध 'काव्यभाषा और काव्येतरभाषा' में भी शैली-वैज्ञानिक आलोचना पद्धति के माध्यम से रीतिविज्ञान की संवेदनाशीलता पर भाषायी प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि 'भारतीय काव्यदृष्टि अंतर्गठन पर बल देती है, इसीलिए वह सतही यथार्थ को महत्त्व न देकर शुद्ध और बाह्य प्रभावों से परिशोधित गणितीय यथार्थ पर देती हैं उसमें निहित शब्दार्थ-व्यापार सबसे अधिक वस्तु रूप में यथार्थ रहता है। आज का संघटनात्मक काव्यशास्त्र भी बाह्य परिवेश की अपेक्षा काव्य के भीतरी परिवेश को अधिक यथार्थ मानता है, इसीलिए अब यह संभव माना जाने लगा है कि काव्य भाषा का विश्लेषण बाह्य परिस्थितियों से निरपेक्ष होकर अधिक सघनता और गहराई के साथ किया जा सकता है और इस विश्लेषण के लिए ऐसे सिद्धांत प्रतिपादित किये जा सकते हैं, जो हर भाषा और हर समय के काव्यरूप की समीक्षा पर लागू किये जा सकते हैं। शैली के संबंध में प्राचीन पश्चिमी मान्यताएँ खंडित हो चुकी हैं कि "रीति (शैली) रचनाकार का व्यक्तित्व है। अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि शैली रचनाकार के द्वारा चुनी हुई संभावनाओं और साँचों का गुंफन है, पर ये संभावनाये और साँचे रचनाकार के नहीं उसकी भाषा के हैं, इस कारण रीति का भी वैज्ञानिक अध्ययन संभव हो गया है।"[115]

हिंदी-आलोचना में शैली वैज्ञानिक आलोचना पद्धति के प्रमुख आलोचक विद्यानिवास मिश्र, डॉ. भोलानाथ तिवारी, डॉ. नगेंद्र, डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ. बच्चनसिंह, डॉ. सुरेश कुमार, डॉ. अंबाप्रसाद सुमन, डॉ. कृष्णकुमार शर्मा, डॉ. गुप्तेश्वरनाथ उपाध्याय तथा डॉ. शिवकुमार शांडिल्य हैं जिन्होंने शैली विज्ञान को आलोचना के क्षेत्र में समीक्षा का नया आयाम देना चाहा है। विद्यानिवास मिश्र शैली के स्थान 'स्टाइल' का पर्याय 'रीति' अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनका कहना है कि "इस अर्थ में 'रीति' शब्द का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है, क्योंकि शुद्ध रूप से सामान्य भाषा के विशेष गुणों के आधार के विभिन्न प्रकारों का वर्गीकरण करने के लिए ही 'रीति' शब्द प्रयुक्त हुआ है या साहित्य के बाहर सामाजिक व्यवहार की किसी व्यापक सामान्य विशेषता का बोधन कराने के लिए प्रयुक्त हुआ है।"[116] डॉ. भोलानाथ तिवारी शैली शब्द के मूल में 'शील' शब्द की व्यंजना पाते हैं। उनका कहना है कि माध्य दिन संहिता में "शीला देवता विशेष है, जिनका मेध्य आंजनी विद्या है। इस विद्या में 'लीपना', 'आजना', 'पालिश करना' आदि का आना 'शील' शब्द के स्तर पर 'शैली' के काफी निकट ला देता है।"[117] इस प्रकार डॉ. तिवारी रीति न मानकर शैली मानते हैं। डॉ. नगेंद्र 'रीति' शब्द की उपयुक्तता को स्वीकार करते हुए भी 'शैली' की अवहेलना नहीं कर सके हैं। उनका कहना है कि "इस नवीन प्रवृत्ति में जिस वस्तु-निष्ठा का इतने आग्रह के साथ उल्लेख किया जाता है, उसके सही अर्थ को वहन करने के लिए 'रीति' शब्द ही अधिक उपयुक्त है।"[118] फिर भी शैली को हिंदी-आलोचना का टक्साली सिक्का समझते हैं तथा शैली विज्ञान का विशेष संबंध काव्य कला से मानते हुए उसकी उपयुक्तता की महत्ता स्वीकारते हैं। डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव के अनुसार भाषा वैज्ञानिक आलोचना एक व्यापक स्तर पर शैली को ग्रहण करती है। "शैली भाषा का मात्र अलंकरण नहीं। यह ठीक है कि शैली अभिव्यक्ति की एक प्रणाली है, पर उसे यह कहकर कि यह साधन है, साध्य नहीं अथवा अर्थ के निकल जाने के पश्चात् जो 'तत्त्व' भाषा की सजावट के लिए शेष बचता है, उस रूप में ग्रहण कर, वस्तुतः शैली के मूल प्रयोजन से ही हम अलग हट जाते हैं।"[119] इसी प्रकार डॉ. गुप्तेश्वरनाथ उपाध्याय ने भी शैली की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव की

भाँति आलोचना में शैली वैज्ञानिक दृष्टि को ही महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि "शैली का अटूट संबंध व्यक्तित्त्व और मौलिकता से है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि शैली निर्माण का अर्थ है, लेखक के व्यक्तित्व का उसकी रचना में प्रसार और इसी व्यक्ति वैशिष्ट्य के कारण ही जब मौलिकता भी रचना से आ मिलती है, तो विषय और अधिक स्पष्ट और सुलझा हुआ बन जाता है।"[120]

पाश्चात्य 'स्टाइलिस्टिक्स' के वजन पर हिंदी में एक नव मिश्र विद्या का अभ्युदय हुआ जो अपने विषयक रूप में 'शैली विज्ञान' के नाम से जाना गया। पाश्चात्य शैलीकारों ने सुस्पष्ट और सुचिंतित रूप से शैली विज्ञान का भवन भाषा विज्ञान की विश्लेषण पद्धति के आधार पर खड़ा किया और इसीलिए भारतीय तत्त्व चिंतकों ने उसे ज्यों-का-त्यों ग्रहण किया। बस, शैली विज्ञान की प्रक्रिया में अंतर आ गया। भारतीय शैलीकारों ने उसे काव्यशास्त्र के नजदीक कुछ अवश्य कर दिया।

शैलीकारों का इस नये विज्ञान के विषय में पक्षपात यह रहा कि प्रारंभ में इसे भाषा विज्ञान की रीति पर अधिक चलाया, लेकिन बाद में विभिन्न शास्त्रों का रंग देकर इसे एक नव्यमिश्र विद्या का रूप दिया जाने लगा जो आधुनिक विधाओं की बारीकियों को उजागर कर सके। शैली वैज्ञानिक आलोचना मूल रूप से चयन, विचलन, समानान्तरता आदि के सूत्रों पर चलकर भाषा के माध्यम से लेखक की प्रयोग विधि, व्यक्तित्व क्षमता और परिवेश का अध्ययन एक साथ प्रस्तुत करती है, जो दूसरी आलोचना पद्धतियाँ नहीं कर पातीं। इसमें आलोचक का चिंतन वस्तुपरक और आलोचना दृष्टि भाववादी होती है। हिंदी-आलोचना में शैली वैज्ञानिक आलोचना पद्धति व्यापक परिवेश पर विस्तार पा रही है। डॉ. नगेंद्र की आलोचना कृति 'शैली विज्ञान' उनके शैली वैज्ञानिक आलोचक रूप को प्रतिबिंबित करती है। इस प्रकार शैली विज्ञान साहित्य की शुद्ध साहित्य दृष्टि से, कृति की दृष्टि से, उसकी आंतरिकता की दृष्टि से व्याख्या का विज्ञान है - वह कृति के रूप और अर्थ के संबंधों की व्याख्या, उसके सौंदर्य की वस्तुनिष्ठ व्याख्या का विज्ञान है। साथ ही वह साहित्य की अभिव्यक्ति के विश्लेषण का तो विज्ञान है ही, वह अभिव्यक्ति के भी विश्लेषण का विज्ञान है - कृति संपूर्ण कृति के विश्लेषण का विज्ञान। डॉ. नगेंद्र ने अपनी कृति 'शैली विज्ञान' के निष्कर्ष में स्पष्ट कलात्मक अनुभूति की चर्चा की है। "इस प्रकार भारतीय शैली विज्ञान काव्यगत भाषिक विवेचन के अर्धृवृत पर ही न रुककर संपूर्ण वृत्त को समेट कर चलता है और यही शैली विज्ञान की सार्थकता है।"[121]

डॉ. कुमार विमल ने 'शैली विज्ञान' शीर्षक निबंध में डॉ. नगेंद्र की कृति का विवेचन करते हुए कहा है कि "शैली विज्ञान अपने वर्तमान रूप में भाषाशास्त्र के विविध अंगों की शब्दावली का उपयोग करता हुआ काव्य के अध्ययन की नयी प्रविधि-प्रक्रिया का उद्घाटन कर रहा है। चूँकि शैली विज्ञान को काव्य शैली के सभी घटकों की व्याख्या और विश्लेषण के लिए ध्वनि विज्ञान, रूप विज्ञान, वाक्य विज्ञान, अर्थ विज्ञान इत्यादि के विकसित साधन और तकनीकी प्रणालियाँ उपलब्ध हैं, इसलिए शैली विज्ञान के समावेश से काव्यालोचन का भाषिक आधार निश्चय ही परिपुष्ट हो सकता है। डॉ. हरदयाल के शब्दों में 'शैली विज्ञान' संबंधी डॉ. नगेंद्र की यह पुस्तक नये लोगों में भारतीय काव्यशास्त्र के प्रति नयी दृष्टि विकसित करेगी। अतएव हिंदी-आलोचना में इस पद्धति का विकास क्रमशः होता जा रहा है और नये चिंतकों को एक नवीन धरातल मिल रहा है। इस प्रकार डॉ. नगेंद्र ने ठीक कहा है कि "शैली विज्ञान मुख्यतः साहित्य की भाषा शैली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन है।"[122]

शैली वैज्ञानिक आलोचना को अधुनातन आलोचनाशास्त्र की एक प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। "अधुनातन साहित्यशास्त्र की प्रवृत्ति बहुमुखी है। आज शाब्दिक संकेतों एवं प्रतीकों को भाषा वैज्ञानिक सिद्धांतों के प्रकाश में भी निरखा-परखा जाने लगा है। परिणामतः साहित्य का व्यावहारिक तथा शैली वैज्ञानिक अध्ययन प्रारंभ हो गया है। इस क्षेत्र में प्राथमिक प्रयासों का बहुत कुछ श्रेय चार्ल्स आग्डेन, आई. ए. रिचड्र्स तथा कुछ नव्य अमरीकन समीक्षकों को भी जाता है, जो सौंदर्य को नये ढंग से परिभाषित करने के आग्रही हैं तथा 'भाषा के संवेगात्मक' प्रयोगों के विवेचन-विश्लेषण में आस्था रखते हैं।"[123] भाषा की संरचना का विवेचन करना शैली वैज्ञानिक आलोचना का मूल उद्देश्य है। "आधुनिक आलोचना की मूलवृत्ति भाषा और प्रतीकवाद की गहरी रुझान से प्रेरित है। अतः यह आकस्मिक नहीं कि आधुनिक आलोचना का एक बहुत बड़ा अंश केवल इस समस्या को केंद्र में रखकर लिखा गया कि भाषा की वस्तुतः अपनी संरचना क्या है, विशेषकर साहित्यिक कृति में प्रयुक्त भाषा की अपनी प्रकृति या संरचना क्या है?"[124]

शैली वैज्ञानिक आलोचना में भाषिकी दृष्टि से साहित्यकृति का मूल्यांकन किया जाता है। शैली वैज्ञानिक आलोचना भाषावादी चेतना से समृद्ध एवं संपृक्त होती है। इसमें कृति विशेष का मूल्यांकन काव्यभाषा तथा संरचना पर ही पूर्णरूपेण निर्भर करता है। काव्य मूल्यांकन का प्रतिमान भाषा या संरचना ही होती है जिस पर कृति के अच्छे या बुरे होने का निर्णय अवलंबित रहता है। अतएव शैली वैज्ञानिक आलोचना वस्तुनिष्ठ एवं रूपवादी चिंतन तथा भाषावादी नयी दृष्टि को अपने में समेटे हुए है। डॉ. नगेंद्र का यह कथन कि "शब्द अर्थ के कुशल प्रयोग से उत्पन्न चमत्कार को ही यदि काव्य का प्रयोजन मान लिया जाय तो काव्य का माहात्म्य सीमित हो जायेगा।" अथवा "शब्द विधान की स्वतंत्र और मौलिक सत्ता स्वीकार कर लेने से चमत्कार को काव्य में अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हो गया है" - को डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव ने 'अर्थ मीमांसा' के निकष पर निरख-परख कर युक्तिसंगत नहीं पाया है। शैली वैज्ञानिक दृष्टि से कविता को परखते हुए उन्होंने अपना अभिमत प्रकट किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि शैली विज्ञान भी कविता को पहले कविता के रूप में ग्रहणा करता है। वह भी यह मानता है कि 'कविता' सूखे काठ की चीज़ नहीं है, मानव-मन के मोम की अंतर्दीप्त प्रतिमा है जो उसके विविध अनुभवों की आँच में पिघलकर नाना रूप धारण करती रहती है। 'शैली विज्ञान' इस तथ्य का 'कदापि विरोध नहीं करता कि कविता के एक पक्ष का संबंध 'अबौद्धिक कथ्य' और 'भाव जगत की जीवनदृष्टि' के साथ बना रहता है। पर इन सबकी स्वीकृति के पश्चात् भी उसकी यह मान्यता बनी रहती है कि 'अबौद्धिक कथ्य' तक भाषा का अवलंबन लेकर ही पहुँचना संभव है, मानव-मन के मोम की अंतर्दीप्त प्रतिमा' का निर्माण कवि जिस अपने संस्कार और प्रातिभ ज्ञान के बल पर अनायास कर लेता है उसको समझने और पाने का मार्ग शब्द और उसमें निहित अर्थ का ही है।

"शैली विज्ञान 'अबौद्धिक कथ्य' और 'अंतर्दीप्त प्रतिमा' का ही अध्ययन प्रस्तुत करता है पर उसका संबंध वह शब्द-अर्थ व्यापार से जोड़कर देखने के पक्ष में है, यह देखने के लिए कि शाब्दिक प्रत्यय रूपांतरण किन स्थितियों में और किन उपकरणों द्वारा 'अबौद्धिक कथ्य' में रूपांतरित होकर 'अंतर्दीप्त प्रतिमा' के निर्माण का कारण बन जाता है।'[125] वस्तुतः डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव भाषा विज्ञान पर आधृत साहित्य समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि डॉ. सत्यदेव मिश्र ने कहा है कि "डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव की पुस्तक 'शैली विज्ञान और

आलोचना की नयी भूमिका' वस्तुतः उस प्रयत्न का प्रतिफल प्रतीत होती है, जिसके आधार पर आज के भाषा के वैज्ञानिक न केवल अनिवार्य रूप से स्वयं को साहित्य-समीक्षा से जोड़ना चाहते हैं, वरन् भाषा विज्ञान के विभिन्न अंगों-प्रत्यंगों के आधार पर साहित्य-समीक्षा की शव-परीक्षा भी करना चाहते हैं।"[126]

'आलोचना' त्रैमासिक अंक 45 में 'भाषा और अधुनिकीकरण अनुवाद का संस्कार और दबाव' शीर्षक निबंध में डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव ने स्पष्ट किया है कि "इसमें संदेह नहीं कि भाषा के आधुनिकीकरण की समस्या, समाज के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से जुड़ी है। भाषा का आंतरिक प्रकृति पर यत्किंचित ध्यान देने पर ही यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर तो भाषा का संबंध बाह्य-जगत् के प्रत्यक्ष ज्ञान से रहता है और दूसरी ओर भाषायी समुदाय की चिंतन प्रक्रिया से। इसीलिए वह समाज और संस्कृति के हर परिवर्तन को व्यंजित करने में समर्थ भी है और सामाजिक और सांस्कृतिक हर नये दायित्व के निर्वाह में सक्षम भी। संप्रेक्षण के अन्य सभी माध्यमों की तुलना में भाषा, न केवल अपने प्रयोक्ता की जीवनदृष्टि में आनेवाले हर सूक्ष्म परिवर्तनों को अधिक सशक्त रीति से व्यंजित करने में सफल होती है वरन् उसके जीवन व्यवहार में आनेवाले प्रत्येक मोड़ की वह साक्षी भी बन जाती है।"[127]

शैली विज्ञान की काव्यक्षेत्र में आलोचनात्मक दृष्टि पर डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव ने एक अलग विवेचन प्रस्तुत किया है जिसको हम आलोचना के निबंध 'काव्य संसार और शैली विज्ञान' के अंतर्गत देखने हैं। शैली विज्ञान जब अपनी सैद्धांतिक मान्यता के अनुसार काव्यकृति को काव्यालोचन का केंद्रक मानता है तब वह साहित्य आलोचना का अपना विशिष्ट दायरा भी खींचता है। काव्यकृति का विवरण और विश्लेषण अथवा उसके प्रति समझदारी पैदा करना एक बात है और उसे साहित्येतर लक्ष्य का साधन बनाना दूसरी बात। शैली विज्ञान अपनी आलोचनात्मक दृष्टि और प्रयोजनात्मक लक्ष्य को काव्यकृति तक बाँधकर रखना चाहता है और इसीलिए वह इसके पक्ष में नहीं है कि काव्यकृति को इतिहास, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि क्षेत्रों की निष्पत्तियों के प्रमाण रूप में ग्रहण किया जाये।"[128] कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि शुक्लोत्तर-आलोचना की शैली वैज्ञानिक आलोचना में डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव का स्थान सर्वोच्च शिखर पर है, क्योंकि आलोचना में भाषा संरचना का प्रतिमान निर्धारण करनेवाले आलोचकों में वे प्रथम पंक्ति के सुधी आलोचक हैं।

**शास्त्रीय आलोचना**

इस आलोचना पद्धति का आविर्भाव द्विवेदी-युग में लक्षणग्रंथों तथा संस्कृत और पाश्चात्य आलोचना का समन्वय करके नूतन-सिद्धांत ग्रंथों के प्रणयन द्वारा हुआ था। शुक्ल युग में यह आलोचना पद्धति-आलोचकों की वैयक्तिक-आत्मचेतना प्रदर्शन के कारण लुप्त-सी हो गयी, पुनः शुक्लोत्तर-युग में अपनी पूर्व परंपरानुसार आलोचना-जगत् में उपस्थित हुई। इस युग में लक्षण ग्रंथों की रचना की जगह संस्कृत के मौलिक ग्रंथों के मूल सिद्धांतों के हिंदी भाषा में प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत किए गए हैं। दंडीकृत काव्यादर्श, वामनकृत काव्यालंकार सूत्र, आनंदवर्धन कृत ध्वन्यालोक, कुंतक कृत वक्रोक्तिजीवित, राजशेखर कृत काव्य-मीमांसा, क्षेमेंद्र कृत औचित्य विचार चर्चा, मम्मट कृत काव्यप्रकाश, अभिनवगुप्त कृत अभिनव भारती इत्यादि शास्त्रीय आलोचना पद्धति के अन्यान्य साक्षी ग्रंथ हैं। 'हिंदी अनुसंधान परिषद' दिल्ली ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अरस्तु का काव्यशास्त्र, लांजाइनस के दी सब्लाइम तथा होरेस के आर्जपोइटिका का भी हिंदी भाष्य प्रस्तुत कर आलोचना-

जगत् को समृद्ध सामग्री देकर महत्वपूर्ण कार्य किया है। साहित्यशास्त्र, रामकुमार वर्मा का काव्यशास्त्र, भगीरथ मिश्र का समीक्षाशास्त्र, सीताराम चतुर्वेदी का नया साहित्य : नये प्रश्न आचार्य वाजपेयी का जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत, लक्ष्मीनारायण सुधांशु का आलोचना का इतिहास तथा सिद्धांत - एस. पी. खत्री का - आदि ग्रंथों की रचना शास्त्रीय पद्धति पर आधृत पाश्चात्य एवं भारतीय सिद्धांतों का समन्वित आधार प्रतिष्ठित करते हुए की गयी है। डॉ. नगेंद्र का 'रस-सिद्धांत' आधुनिक आलोचना की शास्त्रीय पद्धति को आलोकित करता है।

इस आलोचना पद्धति का श्रीगणेश द्विवेदी-युग के लक्षण ग्रंथों तथा संस्कृति और पाश्चात्य समीक्षा का समन्वय करके नव्य सिद्धांत ग्रंथों के प्रकाशन द्वारा हुआ है। शुक्ल-युग में यह पद्धति आलोचकों की वैयक्तिक रुचि व रुझान तथा आत्मचेतना प्रदर्शन के कारण संकुचित-सी हो गयी थी। पुनः शुक्लोत्तर-युग में अपनी पूर्व परंपरानुसार आलोचना जगत् में नव्य परिधान के साथ उपस्थित हुई है। इस युग में लक्षण ग्रंथों की रचना की जगह संस्कृत के मौलिक ग्रंथों के मूल सिद्धांतों का ही हिंदी रूपांतर के रूप में प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत किये गये हैं। रामकुमार वर्मा भगीरथ मिश्र, सीताराम चतुर्वेदी, आचार्य वाजपेयी, सुधांशु, एस. पी. खत्री तथा डॉ. नगेंद्र हैं, जिन्होंने इस आलोचना पद्धति में पुनः प्राण-प्रतिष्ठा स्थापित करने की पुरजोर कोशिश की है। कुछ आलोचकों ने तो इसे आदर्शवादी होने पर घोर आपत्ति की है। आदर्शों की स्थापना ही इसका मूल ध्येय है। डॉ. नगेंद्र का 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' तथा 'रस-सिद्धांत' आधुनिक शास्त्रीय आलोचना के क्षेत्र में अभिनव प्रयोग हैं। 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' ग्रंथ के 'निवेदन' में डॉ. नगेंद्र ने स्वयं कहा है कि "शास्त्रीय आलोचना के क्षेत्र में प्रस्तुत ग्रंथ हमारा नवीन प्रयास है।"

यद्यपि शास्त्रीय-आलोचना साहित्य समीक्षण का प्रौढ़ पक्ष है और उसका अस्तित्व किसी भी देश की सांस्कृतिक निधि में गौरव का विषय है किंतु जब उसे नियमों की रूढ़ि और संकीर्णता में ग्रस्त बना दिया जाता है जो उसकी विकास परंपरा रुक जाती है। बात यह है कि इस प्रकार की आलोचना पद्धति में पूर्वग्रह के रूप में पहले से ही यह मान लिया जाता है कि प्राचीन आचार्यों ने साहित्यशास्त्र के जो मूल्यांकन प्रतिमान निर्धारित किये थे, वे ही वस्तुतः आप्त वचन हैं और उन्हीं की मर्यादा में समीक्षण किया जाना चाहिए। इस प्रकार की मान्यता साहित्य-कल्याण की दृष्टि से समुचित नहीं है।" आलोचक और आलोचना के लिए किसी भी प्रकार की सीमा-रेखा खींचना शुभ संकेत नहीं है, तटस्थता ही उसका प्राणतत्व है। उसे प्राचीनता का पूर्वाग्रह और नव्यता के दुराग्रह से ऊपर उठकर सामंजस्य के ठोस धरातल पर समन्वयवादी दृष्टिकोण से लोकमंगल की कामना से समीक्षादर्श प्रस्तुत करना चाहिए जिससे साहित्य का कल्याण हो सके। शास्त्रीय-आलोचना अतिवाद का विरोध करती है और समन्वयवाद का समर्थन।

### अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना

जिस आलोचना पद्धति का प्रादुर्भाव द्विवेदी-युग में हुआ था, उसकी विकास रेखा शुक्लोत्तर-युग में पुष्ट होती चली आ रही है। इसका मूल कारण विश्वविद्यालयों में शुक्लोत्तर-युग में पुष्ट होती चली आ रही है। इसका मूल कारण विश्वविद्यालयों में एम. फिल., पी-एच. डी. तथा डी. लिट्. पर उपाधियों हेतु प्रस्तुत किया गये शोध प्रबंध हैं। सर्वप्रथम डॉ. बड़थ्वाल का पहला शोध-प्रबंध 1934 ई. में प्रस्तुत हुआ। तत्पश्चात् रमाशंकर शुक्ल रसाल का और तभी से निरंतर शोध-प्रबंधों का ताँता लगा हुआ है जिसकी गणना विश्वविद्यालय स्तर पर न संभव है

और न समीचीन। अतः यही कहा सकता है कि इस पद्धति का विकास चरमोत्कर्ष पर है। यह आलोचनापद्धति शुक्लोत्तर आलोचना को एक ओर तथ्यान्वेषण प्रस्तुत करती है तो दूसरी ओर आलोचना-साहित्य के भंडार के वैभवशाली एवं गौरवशाली बनाने में पूर्ण सहयोग देती है। आज प्रत्येक विधा में इसकी संख्या सर्वाधिक है।

**नयी समीक्षा - प्रयोगवाद, अतियथार्थवाद, अव्यक्तिवाद**

'अज्ञेय' - प्रयोगवाद के प्रेरक उन्नायक हैं, जिन्होंने तारसप्तकों के माध्यम से इस आलोचना पद्धति को विकासोन्मुख बनाया है। "इस नवीन काव्य चेतना ने आलोचना के नये प्रतिमान की आवश्यकता का अनुभव कराया है। इसे सामान्यतः प्रयोगवादी समीक्षा या नयी समीक्षा कहते हैं। जिस प्रकार छायावादी काव्यप्रवृत्ति के साथ 'छायावादी-आलोचना' और प्रगतिवादी काव्य के साथ 'प्रगतिवादी-आलोचना' चल पड़ी थी, उसी प्रकार प्रयोगवादी या नयी कविता के साथ 'प्रयोगवादी' या 'नयी समीक्षा' का प्रचार हो गया है।"[129] इस पद्धति के उन्नायक-आलोचकों में 'अज्ञेय', गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, डॉ. रघुवंश, लक्ष्मीकांत वर्मा आदि प्रमुख हैं। काव्य के साथ-साथ उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना आदि विधाओं पर भी आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। काव्य संबंधी आलोचना की मुख्य पुस्तकों में - अज्ञेय की 'त्रिशंकु', 'आत्मनेपद', 'सप्तकों की भूमिकाएँ', मुक्तिबोध की 'नयी कविता का आत्म-संघर्ष', 'एक साहित्यिक की डायरी', 'नयी कविता का सौंदर्यशास्त्र', माथुर की नयी कविता : 'सीमायें और संभावनायें', भारती का 'मानवमूल्य और साहित्य', वर्मा की 'नयी कविता के प्रतिमान', चतुर्वेदी की 'भाषा और संवेदना', नेमिचंद्र जैन की 'बदलते परिप्रेक्ष्य', शंभुनाथ सिंह की 'प्रयोगवाद और नयी कविता', नामवरसिंह की 'कविता के नये प्रतिमान', डॉ. रघुवंश की 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य', मेघ की 'आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण' इत्यादि पुस्तकें आलोचना साहित्य के एक विशद अभाव की पूर्ति करती हैं। अतियथार्थवादी चेतना जो अतिव्यक्तिवाद का ही एक रूप है - कला और स्वप्न का निकट संबंध स्वीकारता है तथा मनोविश्लेषण पद्धति के उपांगों के रूप में अपनी भूमिका प्रस्तुत करता है। 'अज्ञेय' जो इस आलोचना पद्धति के प्रतिष्ठाता हैं - पाश्चात्य आधुनिक आलोचक टी. एस. इलियट से प्रभावित होते हुए इसका प्रस्तुतीकरण आलोचना में किये हैं। वे मानव संवेदना को नैतिकता करार दिये हैं। "कोई नैतिक निर्णय बाह्य कर्म के आधार पर नहीं हो सकता, आभ्यांतर उद्देश्यों का विचार होना चाहिए। मानवीय संवेदना तो सबसे बड़ा नैतिक मूल्य है ही।"[130] इसी प्रकार 'भारती' भी कहने का प्रयत्न करते हैं, "जो आंतरिकता इस विघटन का परिहार कर ऐसी नयी भावभूमि का सृजन कर सके जिसमें व्यक्ति और समाज के कृत्रिम विरोध का परिशमन हो।"[131] मानवतावादी नूतन दृष्टि में कलाकार किसी बाहरी परंपरागत रूढ़ि, धारणा, समाज, राजनीति, धर्म, संप्रदाय या सिद्धांत के लिए अपने को उसका उत्तरदायी नहीं ठहराता है, बल्कि संकल्प में अगाध आस्था, आत्मबोध, आत्मोपलब्धि की निष्ठा एवं विश्वास, आधुनिकता, समसामयिकता आदि मान्यतायें ही मानवतावादी दृष्टि के सुफल एवं निष्कर्ष हैं। कुमार विमल के मतानुसार नयी आलोचना प्राचीन काव्यशास्त्रीय परंपरा से प्रस्थान की दीर्घ किंतु प्रच्छन्न प्रक्रिया का प्रकट और परिणत फल है। नयी आलोचना का विश्वास है कि हिंदी के रचनात्मक साहित्य में आलोचनादर्श की निर्णायक और अंगीभूत सामग्री प्रभूत मात्रा में विद्यमान है। इसलिए हिंदी को अपने रचनात्मक साहित्य की प्रकृति, प्रवृत्ति और चिंताधारा के अनुरूप सहजोपलब्ध स्वतंत्र आलोचना का निर्माण करना चाहिए।[132] आचार्य वाजपेयी 'हिंदी समीक्षा का विकास' निबंध में स्पष्ट किया है कि "साहित्य की रचना और उसकी आलोचना की धारायें सामानान्तर होती हैं। प्रत्येक युग का रचनात्मक साहित्य ऐसी आलोचना का उद्भावना करता है जो उसके अनुरूप

होती है, और इसी प्रकार प्रत्येक युग की आलोचना उस युग की रचना को अपने अनुकूल बनाया करती है।"[133] नई आलोचना आज के परिवेश में नयी परंपरा गढ़ने की आकांक्षी है। अलैकिकता के स्थान पर लौकिक जगत का बोध, अतिशय कल्पनाशीलता के स्थान पर यथार्थवादी अंकन, परंपरा के स्थान पर समन्वयवादी दृष्टि, नैतिक मूल्यों के प्रति आकर्षण, सामंजस्य में सौंदर्य चेतना की अनुभूति, मनोवैज्ञानिक रुचि, रसानुभूति को सौंदर्यनुभूति के पर्याय के रूप में स्वीकृति लोकोपयोगी दृष्टिकोण आदि तथ्यों का निरूपण ही नयी आलोचना में काम्य सिद्ध होगा। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, सांस्कृतिक चेतना, समसामयिकता बोध आदि तथ्यों को नयी आलोचना समाहित किये हुए हैं। डॉ. नगेंद्र की 'नयी समीक्षा' इसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को रेखांकित करती है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने भी नयी आलोचना की संभावना का संकेत किया था। "आलोचना के नवीन दृष्टिकोण, सिद्धांत और शब्दावली के लिए प्रस्तुत लेखक ने दो दशाब्द पूर्व ही कदम उठाया था। यह स्वाभाविक था कि दृष्टिकोण के रूप में उसकी संगृहीत आलोचना बहुतों के लिए अग्राह्य सिद्ध होती। उसने संस्कृत के साथ ही पाश्चात्य साहित्यालोचन की नवीनतम प्रवृत्तियों के समन्वय से जिस नव्यालोचन का प्रवर्तन किया, उसकी ओर शुक्ल जी संकेत कर चुके थे, और दृष्टिकोण की परवर्ती समस्त नवीन और सार्थक हिंदी-आलोचना इसी पथ पर चली।"[134]

हिंदी में नवलेखन का प्रारंभ प्रायः 1943 ई. के तारसप्तक के प्रकाशन के साथ ही हो गया था। यह यूरोप के न्यूराइटिंग के पैटर्न पर चलाया गया जिसका बीजरूप जेम्स बर्जीनिया बुल्फ तथा टी. एस. इलियट जैसे आलोचकों की रचनाओं में विद्यमान हैं। "सृजन और समीक्षा में एक समानांतर रचना-प्रक्रिया संभव है यदि समीक्षक स्वयं को जीवन की उस विराटता से संबद्ध करने की चेष्टा करे, जिसने रचनाकार को अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित किया। कवि, कथनाकार अथवा किसी भी सहित्य-विधा के सृष्टा जीवन को कैद करने के प्रयत्न में एक संपूर्ण संश्लिष्ट प्रक्रिया से गुजरते हैं, और जब तक इसकी सही पहचान नहीं होगी तब तक समीक्षा जड़ और निष्प्राण होगी।"[135] इस प्रकार नये रचनाकारों ने नयी समीक्षा के अंतर्गत प्रत्येक विधा में भरपूर सहयोग दिया है जिससे आलोचना में प्रचार एवं प्रसार तथा फैलाव हुआ और दृष्टिकोण की विभिन्नता के कारण अनेकवाद भी उत्पन्न हो गये। इस संबंध में डॉ. कुमार विमल का निबंध 'नयी आलोचना की खोज शुक्लोत्तर समीक्षा के संदर्भ में' तथा डॉ. प्रेमशंकर का निबंध 'नवलेखन और हिंदी समीक्षा' उल्लेखनीय हैं।

शुक्लपूर्व आलोचना में सौंदर्यवादी प्रवृत्तियों की झलक बहुत हल्की-सी मिलती है। चूँकि आलोचना का कोई व्यवस्थित धरातल नहीं बन पाया था, इसलिए इस युग में आलोचकों की सौंदर्य-विषयक धारणायें भी उनके रीतिबद्ध दृष्टिकोण से मर्यादित हैं। रीतिकालीन आचार्यों में केशव, देव, कुलपति, चिंतामणि आदि शृंगारिक प्रवृत्तियाँ ही सौंदर्यवादी प्रवृत्तियों के रूप में प्रतिबिंबित हुई हैं। सौंदर्यवादी नवीन दृष्टि का उन्मेष शुक्लयुग में हुआ। शुक्लपूर्व आलोचना में सौंदर्यवादी प्रवृत्ति के प्रमुख आलोचक डॉ. श्यामसुंदर दास हैं। उनके अनुसार सौंदर्य भावना, सभ्य मानव-समाज में सर्वत्र पायी जाती है तथा साहित्यकार की सौंदर्यप्रियता के कारण ही उनकी कृति में सरसता, अलोकिकता तथा आनंद्रप्रद अनिर्वचनीयता सन्निविष्ट हो जाती है। सौंदर्य भावना के कारण ही विशुद्ध साहित्य दार्शनिक जटिलताओं से मुक्त होकर सभी सहृदयजनों के लिए आकर्षक, रमणीय एवं संवेद्य बनता है। सौंदर्य ज्ञान की सहायता से ही साहित्यकार अपने भावों, विचारों, आकांक्षाओं तथा कल्पनाओं को सुंदरतम् रूप में अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार साहित्य सौंदर्य की ही अभिव्यक्ति है।

डॉ. श्यामसुंदर दास ने काव्य-रचना के लिए मात्र सौंदर्य पर मुग्ध होना ही स्वीकारा है जिसके आनंद की अनुभूति लोक-हितकारी होती है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि "केवल सौंदर्य पर मुग्ध होकर अथवा आनंदपूर्ण एक झलक पाकर भी काव्य-रचना की जा सकती है और की गयी है।" काव्य के लिए सत्य और सुंदर की अपेक्षा होती है। "बाबू जी ने सुंदर और सत्य को काव्य के लिए अनिवार्य माना है, शिव की अनिवार्यता पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है।"[136] पं. पद्मसिंह शर्मा की आलोचना पद्धति भी सौंदर्यशास्त्री प्रवृत्तियों से रूपायित है। यही कारण है कि आचार्य वाजपेयी ने उन्हें शृंगारिक परंपरा का आलोचक सिद्ध किया है। संस्कृत साहित्य से परंपरानुमोदित सौंदर्य निरूपण को शर्मा जी ने रिक्थ रूप में स्वीकारा है। सौंदर्य को उन्होंने बाह्य रूप में मान्यता प्रदान की है। आंतरिक पक्ष पर उनकी दृष्टि कम ही पहुँच सकी है।

शुक्लपूर्व आलोचना में सौंदर्यानुभूति को रसानुभूति के पर्याय के रूप में ही स्वीकारा गया है। यह स्थिति बाद में भी कुछ सीमा तक बनी रही है। "भारतीय वाङ्मय में सौंदर्यानुभूति का प्रामाणिक विवेचन काव्यशास्त्र में रस-प्रसंग के अंतर्गत हुआ है, क्योंकि सौंदर्य की व्यक्तिनिष्ठ परिकल्पना की परिणति, वास्तव में रस ही है। परंतु उसके विषय में संकेत सूत्र आरंभ से ही मिल जाते हैं जिसका अर्थ विश्लेषण करने पर सौंदर्यानुभूति के स्वरूप पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। एक शब्द है 'रूप' जो आकृति या आकार (फार्म) का वाचक होने के अतिरिक्त सौंदर्य के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। दूसरा इसी प्रकार का शब्द है 'रण्व' जो सुंदर का पर्याय है। ये दोनों शब्द सौंदर्य के ऐन्द्रिय स्वरूप के वाचक हैं और इनके अनुसार सौंदर्यानुभूति एक ऐन्द्रिय अथवा ऐन्द्रिय-मानसिक अनुभूति है।"[137] इस युग में आलोचकों ने सौंदर्य को रस के ही पर्याय के रूप में विश्लेषित किया है। यह परंपरा मध्यकालीन काव्य में भी पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलती है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र, आचार्य द्विवेदी, बाबू श्यामसुंदर दास, मिश्रबंधु, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन आदि आलोचकों ने सौंदर्य को रस से ही जोड़कर देखा है। आलोचना जो काव्य-समीक्षा मुलतः थी - इसी सौंदर्यानुभूति से प्रभावित होकर इस युग में की गयी है। शुक्लपूर्व युग के आलोचकों ने सौंदर्यानुभूति को एक दार्शनिक रंग में रँगा देखने की चेष्टा की है। यह प्रीतिकर या आत्मनः कामाय की भावना से प्रेरित प्रतीत होती है। भारतीय दर्शन में जो आनंद की व्याख्या है वह सौंदर्य की व्याख्या इस युग में देखने को मिलती है। सौंदर्य की अनुभूति सदैव आनंदमयी हुआ करती है और वही आनंद प्रकारांतर से कल्याणकारी भी होता है। यूरोप के भाववादी कला आलोचकों की सौंदर्य-विषयक मान्यताओं का प्रतिवाद करते हुए शुक्ल जी ने कहा है कि सौंदर्य केवल मन के भीतर की वस्तु है, यह कोरी निराधार बात है। जिस प्रकार वीर कर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, उसी प्रकार सुंदर से भिन्न सौंदर्य का भी अस्तित्व नहीं। कुछ बाह्य रूप, रंग मन में इस प्रकार समा जाते हैं कि हमारा अंतःकरण उन्हीं के रूप में परिणत हो जाता है, यह तदाकार परिणति ही सौंदर्यानुभूति है।

शुक्ल जी की दृष्टि में बाह्य और आंतरिक सौंदर्य का भेद व्यर्थ है। वस्तुओं के रूप, रंग और हृदय द्वारा उनकी अनुभूति दोनों के समन्वय का नाम ही सौंदर्य है। वह तदाकार परिणति विशेष रंग, रेखा या रूप के कारण व्यक्ति विशेष की अभिरुचि के अनुरूप ही होती है तथा वह इच्छित वस्तु को सुंदर समझता है। मानव के साथ-साथ प्रकृति एवं मानवेतर प्राणियों में भी सौंदर्य है। इस सौंदर्य के प्रभाववश ही हृदय की तदाकार परिणति होती है।"[138] शुक्ल जी ने शारीरिक सौंदर्य के साथ भाव सौंदर्य का महत्व प्रतिपादित किया है। काव्यसाहित्य में धीरता, वीरता, त्याग, उदारता, दया, प्रेम आदि भावनाओं का ऐसा वर्णन किया जाता है कि उनका सौंदर्य निखर जाता

है। ये भावनाएँ इसलिए सुंदर है कि इनके साथ कर्म का संयोग है। ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक इन तीनों का सामंजस्य ही सौंदर्य है।

शुक्लकालीन आलोचना के दूसरे प्रमुख आलोचक बाबू गुलाबराय हैं जिन्होंने सौंदर्य को सामंजस्य के रूप में आचार्य शुक्ल की तरह विश्लेषित किया है। उन्होंने सौंदर्योपासना और कुरूपता शीर्षक निबंध में यह धारणा व्यक्त की है कि यह सुंदर दृश्यमान जगत् जिसमें प्रकृति भी सम्मिलित है, मनुष्य की आत्मा में विद्‌यमान सौंदर्य-विषयक आदर्शों का ही प्रत्यक्ष रूप है। सौंदर्योपासना में आत्मगत तथा वस्तुगत दोनों की एकान्विति आवश्यक है। यह सिद्‌धांत आत्म तत्त्व तथा अनात्म तत्त्व के समन्वय पर आधारित है। उनका मत है कि सौंदर्य को लोभ और संग्रह की दृष्टि से देखनेवाले विशुद्‌ध सौंदर्य तत्व को ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं, इसलिए निःस्वार्थ निर्मल दृष्टि ही वांछनीय है। वह सौंदर्य के उपयोग के पक्ष में नहीं है, उसकी उपासना पर ही बल देते हैं। सौंदर्य-विषयक ऐसी दृष्टि ग्रहण कर लेने से समस्त जीवन एवं प्रकृति में सौंदर्य के दर्शन करने की क्षमता मनुष्य में आ जाती है।"[139]

शुक्लकालीन आलोचना में सौंदर्यवादी प्रवृत्तियाँ छायावादी कवि-आलोचकों में भी दृष्टिगोचर होती हैं। छायावादी कवि-आलोचकों की साहित्य-साधना मुलतः स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति से निरूपित है, जिसमें सौंदर्यवादी एक विशेष प्रवृत्ति विकसित हुई है। इसके प्रमुख हस्ताक्षर प्रसाद, पंत, निराला एवं महादेवी वर्मा है। सौंदर्य को विभिन्न कोणों से देखने का उपक्रम इन आलोचकों ने किया है। यह युग सौंदर्य निरूपण के लिए विशेष महत्त्व का है। कला को इसी प्रकार विश्लेषित करनेवाले इन आलोचकों ने सौंदर्यवादी प्रवृत्ति को एक नया आयाम दिया है। प्रसाद जी ने साहित्य को व्याख्यायित करते हुए कहा है कि "दुःखदग्ध जगत् और आनंदपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है, इसीलिए असत्य और अघटित घटना पर कल्पना को वाणी महत्त्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौंदर्य के कारण सत्य-पद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमें विश्वमंगल की भावना ओत-प्रोत रहती है।"[140] पंत जी का दृष्टिकोण भी समन्वयवादी रहा है। निराला ने स्वच्छंदतावादी सौंदर्यमयी वृत्तियों से निर्मित काव्य को विश्लेषित किया है। "कला केवल वर्ण, शब्द, छंद, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुंदरता नहीं, किंतु इन सभी से संबद्‌ध सौंदर्य की पूर्ण सीमा है, पूरे अंगों की सत्रह साल की सुंदरी की आँखों की पहचान की तरह-देह की क्षीणता-पीनता में तरंग की उतरती चढ़ती हुई, भिन्न वर्णों की बनी वाणी में खुलकर क्रमशः मंद मधुरता होकर लीन होती हुई - जैसे केवल बीज से पुष्प की पूरी कला विकसित नहीं होती, न अंकुर से, न डाल से, न पौधे से, जड़ से लेकर तना, डाल, पल्लव और फूल के रंग, रेषु गंध तक फूल की पूरी कला के लिए जरूरी है, वैसे ही काव्य की कला के लिए काव्य के सभी लक्षण और जिस तरह फूलों की सुगंध पेड़ के दृश्य समस्त भाग को ढके हुए, अपने सौंदर्य तत्त्व के भीतर रखती है, पेड़ की काष्ठ-निष्ठुरता दीखती हुई भी छिपी रहती है, उसी तरह काव्य-कला आवश्यक अशोभन वर्ण संप्रदाय को अपनी मनोज्ञता के भीतर डाले रहती है।"[141] महादेवी भी साहित्य के क्षेत्र में गोचर-जगत् की अभिव्यक्ति के साथ-साथ अंतर्जगत् की सौंदर्यमयी चेतना का समीकरण स्वीकार करती हैं।" "व्यापक अर्थ में तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सौंदर्य या प्रत्येक सामंजस्य की अनुभूति ही रहस्याभूति है। यदि एक सौंदर्य अंश या सामंजस्य खंड हमारे सामने किसी व्यापक सौंदर्य का द्‌वार नहीं खोल देता ते हमारे अंतर्गत का उल्लास से आलोकित हो उठना संभव नहीं।"

शुक्लयुगीन आलोचकों में सौंदर्यवादी प्रवृत्तियों में रूपायित आलोचना प्रस्तुत करनेवाले आलोचकों में आचार्य शुक्ल, बाबू गुलाबराय, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी के अतिरिक्त पं. रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' आदि है। इन आलोचकों ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से प्रभावित होकर सौंदर्य को किसी-न-किसी रूप में विश्लेषित किया है। सौंदर्य ही सामंजस्य है। सामंजस्य ही कला है - इस प्रकार का स्वर शुक्लयुगीन आलोचना में ध्वनित हुआ है। आचार्य शुक्ल स्वयं इसके हिमायती रहे हैं। यही कारण है कि इन आलोचकों की आलोचना पद्धति समन्वयवादी हो गयी है। डॉ. निर्मला जैन का कथन है कि "यह ऐतिहासिक तथ्य है कि सौंदर्यशास्त्र का विकास जिस रूप में हुआ, उसका अधिकांशतः सौंदर्य और सौंदर्यानुभूति के स्वरूप की व्याख्या से जूझता रहा। काण्ट ने संवेदनाओं के दार्शनिक विवेचन को ही 'एस्थेटिक' नाम दिया था। इस शब्द का यह दार्शनिक संवेदनात्मक अनुषंग आज भी कायम है।"[142] सौंदर्यवादी प्रवृत्तियों ने सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना की पद्धति को जन्म दिया है जो आज की आलोचना में नवीनतम पद्धति के रूप में विख्यात है। अतएव यह कहना है कि सौंदर्यशास्त्रीय पद्धति कोई पद्धति नहीं है - सर्वथा असंगत एवं असत्य होगा।

शुक्लोत्तर-आलोचना में सौंदर्यवादी प्रवृत्तियों को अपनी आलोचना में समाहित करनेवाले प्रमुख आलोचक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा आचार्य नगेंद्र हैं। ये तीनों आलोचक सौंदर्य को सामंजस्य के रूप में स्वीकारते हैं। इनके अतिरिक्त इस युग के अन्य प्रमुख आलोचक, जिनकी आलोचना सौंदर्यशास्त्रीय पद्धति को मुखरित करती है - हद्वारी लाल, रामानंद तिवारी, डॉ. निर्मला जैन, डॉ. कुमार विमल, डॉ. खंडेलवाल, डॉ. रमेशकुंतल मेघ, डॉ. फतेहसिंह, डॉ. सुर्यप्रसाद दीक्षित, शिवबालक राय हैं। सौंदर्यशास्त्रीय पद्धति इस युग की आलोचना की नवीनतम पद्धति है। सौंदर्य जिन सुंदर भावनाओं का सृजन करता है, वे ही आत्मा को प्रभावित करती हैं। मनुष्यता के चरणों पर कला इसी उपकारी भावना को अर्पण करती है।"[143]

हिंदी-आलोचना में सौंदर्यवादी दृष्टि से रूपायित वह पद्धति है जिसमें काव्य मूल्यांकन का प्रतिमान सौंदर्य ही अभीष्ट है। आलोचना की सौंदर्यवादी या सौंदर्यशास्त्रीय पद्धति को अभी तक आचार्यों एवं आलोचकों ने स्वच्छंदतावादी आलोचना की सौंदर्यवादी आलोचना के अंतर्गत ही अध्ययन किया है, क्योंकि स्वच्छंदतावादी आलोचना की सौंदर्यवादी आलोचना एक प्रवृत्ति विशेष के रूप में मानी जाती रही है। यहाँ सौंदर्यवादी या सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना को स्वच्छंदतावादी, मनोविश्लेषणवादी, रसवादी तथा समाजवादी या समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति के समानांतर चलनेवाली पद्धति के रूप में विवेचित किया गया है। यह पद्धति अन्य आलोचना पद्धति के सदृश्य ही उन्मुख है और इसका काव्य-मूल्यांकन का प्रतिमान भी अलग है। अभी तक इसका अस्तित्व मान्यता प्राप्त नहीं है, लेकिन भविष्य में यह उन पद्धतियों की भाँति समानांतर प्रतिमान स्थापित करती रहेगी।

सौंदर्य पाश्चात्य आचार्यों में प्लेटों के अनुसार क्षय, क्षीण, आविर्भाव, विनाश से परे चिरंतन एवं सार्वभौमिक तत्त्व है, जबकि उनका शिष्य अरस्तु आत्मानुभूति को ही सौंदर्यानुभूति का दर्जा देता है जो वस्तु और आत्मा के बीच आकर्षण का संयोजन तत्व है। लोंजाइनस भाषा एवं शब्द सौंदर्य की आत्मा की प्रतिध्वनि रूप में स्वीकारते हैं, जबकि होरेस भाषा, शब्द और छंद का शिवं रूप को मान्यता प्रदान करता है। ड्राइडन बुद्धि और विवेक से समन्वित कल्पना तत्त्व को ही सौंदर्य की संज्ञा देते हैं। पोप ने लौकिक और अलौकिक सौंदर्य के रूप में

नैसर्गिक ज्योति को ही स्वीकारा है। डॉ. जान्स काव्य में भाषा, छंद तथा संगीतात्मकता तत्त्व की प्रधानता स्वीकारते हैं, जबकि गेटे सौंदर्य को अनिर्वचनीयता की संज्ञा देते हैं। स्वच्छंदतावादी आलोचक वर्ड्सवर्थ आत्मानुभूति को ही सौंदर्य मानते हैं जो वस्तुगत की अपेक्षा आत्मगत है। एस. टी. कालरिज के अनुसार सौंदर्य कवि प्रतिभा और कल्पना-शक्ति का उद्भास है। पी. बी. शेली कवि को ही सौंदर्य का उपभोक्ता स्वीकारता है जो सत्यं एवं शिवं का प्रतिरूप है। मैथ्यू अर्नल्ड संस्कृति और समाज के उदात्त तत्व जो नैतिक और लेक-कल्याण के भाव से समन्वित है - को ही सौंदर्य मानते हैं। रिचड्र्स शरीर, मन संस्कृति और समाज के सामंजस्य पर आधृत ऐंद्रिय संवेदना को ही सौंदर्य स्वीकारते हैं। क्रोचे सौंदर्य का परिबोधन आंतरिक एवं आत्मनिष्ठ रूप में मानते हैं। 'अभिव्यक्ति मूल रूप से मानसिक क्रिया मात्र है। सौंदर्य की अभिव्यक्ति अंतर्ज्ञान होने पर ही होती है। कलाकार दृष्टा के दृष्टिकोण से ही सौंदर्य के स्वरूप को जान सकता है। जिस स्थिति में कलाकार को स्पष्ट अंतर्ज्ञान होता है उस स्थिति में उसे सौंदर्य का पूर्ण ज्ञान होता है।[144]

भारतीय आचार्यों में भरतमुनि सौंदर्य को वस्तुपरक और आत्मपरक दोनों रूप में स्वीकारते हैं तथा भामह एवं दंड अलंकार को ही काव्यगत सौंदर्य मानते हैं। वामन अलंकार से युक्त गुण को सौंदर्य कहते हैं तथा आनंदवर्द्धन दिव्यानुभूति को सौंदर्य रूप में स्वीकृति देते हैं। कुंतक शब्द अर्थ के समन्वय को सौंदर्य मानते हैं जबकि पं. जगन्नाथ अंतःकरण की अनुभूति को ही सौंदर्य मानते हैं। इसी प्रकार आचार्य शुक्ल का कहना है कि "सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। सुंदर वस्तु से पृथक-सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अंतर सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौंदर्य की अनुभूति है।"[145] शुक्ल जी की दृष्टि में वस्तुओं के रूप-रंग और ह्रदय द्वारा उनकी अनुभूति के सामंजस्य की ही अभिव्यक्ति है। लक्ष्मीनारायण सुधांशु की दृष्टि में सौंदर्य मन के भावों की प्रतिछाया है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी मानवीय धरातल पर सामंजस्य की अनुभूति ही सौंदर्य मानते हैं। आचार्य वाजपेयी सौंदर्य को चेतना का पर्याय मानते हैं। "सौंदर्य ही चेतना है, चेतना ही जीवन है, अतएव काव्यकला का उद्देश्य सौंदर्य का ही उन्मेष करना है।"[146] डॉ. रामेश्वरलाल खंडेलवाल ने सौंदर्य का अवच्छेदक लक्षण आकर्षण माना है। जहाँ-जहाँ आकर्षण है, वहाँ-वहाँ सौंदर्य अवश्य है। आकर्षण में ही सौंदर्य की आत्मा है।[147]

साहित्य और सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि-निबंध में डॉ. निर्मला जैन ने सौंदर्यशास्त्र और सौंदर्यवादी पद्धति को विश्लेषित पद्धति को विश्लेषित करने का प्रयोस किया है। जाहिर है, 'सामान्य सौंदर्य की अपनी परिधि में सृजन, संप्रेषण और आस्वाद का अमूर्त क्षेत्र आता है और मूर्त माध्यम से विश्लेषण का हर कला का अपना शास्त्र होता है।' अतएव सौंदर्यवादी पद्धति सौंदर्यानुभूति की व्याख्या का आयाम प्रस्तुत करती है। सौंदर्यशास्त्रीय पद्धति शुक्लोत्तर हिंदी-आलोचना की नवीनतम पद्धति जिसमें कृति का मूल्यांकन उसके सौंदर्य निरूपण पर आधारित होता है। सौंदर्य का ही प्रतिमान कृति में प्रतिबिंबित होता है जो आनंद को प्रकारान्तर से लक्षित करता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा भारतीय काव्यशास्त्र में संस्कृत काव्यशास्त्र के अंतर्गत पहले से सौंदर्य को प्रतिमान का स्थान प्राप्त है परंतु हिंदी-आलोचना में सौंदर्य को निर्धारित करने में आलोचकों में संकोच दृष्टिगत होता है। शुक्लोत्तर-आलोचना में यह संकोच वाचाल होकर मुखरित हो उठा।

'आधुनिक साहित्य : नयी मान्यताएँ' निबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने स्वीकार किया है कि 'हमारा आधुनिक साहित्य यूरोपियन संपर्क के बाद ही विकसित हुआ है।" वे इस तथ्य को भी स्वीकारते हैं कि "इन दिनों समस्त जागतिक व्यापारों में एक व्यापक नियम और सामंजस्य खोजने की दुर्दम जिज्ञासा-वृत्ति का जन्म हुआ।"[148] हिंदी-आलोचना की विभिन्न प्रवृत्तियों के मूल में डार्विन का विकासवाद का सिद्धांत भी समान रूप से लागू होता है जिसके कारण आज आलोचना में अनेक पद्धतियाँ पुष्पित एवं पल्लवित हो रही हैं। सभी प्रकार की कर्म प्रणालियाँ मानव की सौंदर्य भावना तथा रस संवेदना के कारण ही हिंदी-आलोचना में विकसित हो रही हैं। मानव-मुक्ति मानवतावाद से युक्त समन्वयवाद में है जहाँ पर सामंजस्य के धरातल पर सौंदर्य निखरता है। समष्टि मानव ही समन्वयवाद का विषय है जिसमें भेद में अभेद की प्रतीति होती है। वह सुखकर होती है, प्रीतिकर होती है और वही समाजोपयोगी एवं लोककल्याणी होती है।'

हिंदी-आलोचना में जब सौंदर्यशास्त्र जैसे शास्त्र को भी आविर्भाव दृष्टिगोचर होता है। पूर्ववर्ती आलोचक सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना जैसी पद्धति को भी स्वीकारने में हेठी समझते थे - वहाँ अब सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना की पद्धति धक्केमार चल रही है तथा अब इसे स्वतंत्र पद्धति के रूप में मान्यता प्रदान करने में आधुनिक आलोचकों को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। सौष्ठववादी या स्वच्छंदतावादी पद्धति के अंतर्गत अभी तक सौंदर्यशास्त्री जैसी कोई स्वतंत्र पुस्तक देखने को नहीं मिली।

हिंदी-आलोचना में हरवंश सिंह शास्त्री का 'सौंदर्य विज्ञान', हरद्वारीलाल शर्मा का 'सौंदर्यशास्त्र', रामानंद तिवारी का 'सत्यं शिवं सुंदरम्' तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'कालिदास की लालित्य योजना' प्रकाशित हो गयी है जिससे इस पद्धति को विशेष बल मिला है। इसके अतिरिक्त डॉ. रामेश्वरलाल खंडेलवाल द्वारा लिखित 'आधुनिक हिंदी काव्य में प्रेम और सौंदर्य' आलोचना कृति सौंदर्यशास्त्र को समृद्ध बनाने में सहायक सिद्ध है। डॉ. कुमार विमल ने 'सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व' तथा 'छायावाद का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन' लिखकर इस पद्धति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। डॉ. निर्मला जैन का 'रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र' सौंदर्यशास्त्र की कड़ी को जोड़ने में मदद करता है। डॉ. शिवबालक राय को काव्य में सौंदर्य और उदात्त' 'तत्व' तथा डॉ. रमेशकुंतल मेघ के 'अथातो सौंदर्य जिज्ञासा' तथा 'साक्षी सौंदर्य पाश्विक' इसी पद्धति के ग्रंथ हैं। पं. इलाचंद्र जोशी का 'साहित्य सर्जना' भी इसी पद्धति का भान कराता है। डॉ. नगेंद्र की आलोचना कृति 'भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका' सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना पद्धति की जन्मकुंडली है। अतएव अब यह नहीं कहा जा सकता कि सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना पद्धति हिंदी-आलोचना में नहीं है। उपर्युक्त ग्रंथों के अलावा प्रतिदिन सौंदर्य पर लेख देखने को मिलते हैं जैसा कि डॉ. निर्मला जैन का 'आलोचना' अंक 47 का यह लेख - 'सौंदर्य का समाधि-लेख : प्रलय की छाया'। इस प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र की यह अभिनव उपलब्धि शुक्लोत्तर हिंदी-आलोचना में चालू सिक्के की भाँति चल रही है - इसमें कोई संदेह नहीं। अतएव 'काव्य प्रतिमान के रूप में प्राचीन रस-सिद्धांत की जो सत्ता थी, वही आज पश्चिम में सौंदर्यानुभूति की सत्ता है। ... इसलिए सौंदर्यानुभूति को काव्यमूल्यांकन के लिए प्रतिमान के रूप में स्वीकार करना उचित ही है।'[149]

सौंदर्यशास्त्रीय पद्धति हिंदी-आलोचना की वह पद्धति है जिसमें सौंदर्य निरूपण का चिरस्थायी प्रभाव (Everlasting impression) पाठक या दर्शक पर पड़ता है। इसमें साहित्य निकष मूलतः सौंदर्य ही होता है जिसमें एक प्रकार का आकर्षण एवं खिंचाव होता है। यद्यपि यह पद्धति अभी समग्र आलोचकों द्वारा मान्यता

प्राप्त नहीं है, फिर भी शुक्लोत्तर-आलोचना की नवीनतम पद्धति होते हुए भी साहित्यमूल्यांकन के क्षेत्र में यह महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। वह दिन दूर नहीं जब सौंदर्यशास्त्रीय पद्धति हिंदी-आलोचना में स्वच्छंदतावादी पद्धति के समानांतर चलने लगेगी। डॉ. रामखेलावन पांडेय का लेख 'शुक्लोत्तर हिंदी समीक्षा : सौंदर्यशास्त्रीय पद्धति' को पढ़ने से लगता है कि आलोचना में यह कोई मान्यता प्राप्त पद्धति ही नहीं है। डॉ. पांडेय शुक्लोत्तर समीक्षा का सर्वेक्षण तो करते हैं लेकिन जो सौंदर्य वह ढूँढ़ना चाहते हैं - वह उन्हें आज भी प्राप्त नहीं हो सका है। उन्हें हरवंशसिंह शास्त्री का 'सौंदर्य विज्ञान' पाश्चात्य अवधारणाओं के संचयन के कारण आकृष्ट न कर सका तथा हरद्वारीलाल शर्मा को 'सौंदर्यशास्त्र' अन्तदर्शन की व्यापकता में गौंड़ लगा। रामानंद तिवारी का 'सत्यं शिवं सुंदरम्' गांभीर्य के कमी के कारण तथा डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'कालिदास की लालित्य योजना' उभयनिष्ठता के आधिक्य के कारण डॉ. पाण्डेय की सौंदर्यशास्त्रीय पद्धति के अंतर्गत नहीं आ सके हैं। शिवबालक राय का 'काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्त्व' भावना, धारणा और साधना के 'अनिर्दिष्ट व्यंजन मात्र' डॉ. पांडेय को लगा है। लगता है कि सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना पद्धति के विवेचन में पूर्वाग्रही मान्यता समिति के अध्यक्ष डॉ. पांडेय हैं। उन्हें न तो डॉ. नगेंद्र, डॉ. खंडेलवाल, डॉ. निर्मला जैन, डॉ. मेघ, डॉ. कुमार विमल आदि सौंदर्यशास्त्रीय आलोचकों की कृतियों का पता लगा है, और न काव्य-मूल्यांकन का प्रतिपादन सौंदर्य को ही स्पष्टतः समझ सके हैं। अपने लेख का शीर्षक आकर्षक देने के वे आकांक्षी तो हैं लेकिन स्वयं शीर्षक की सार्थकता और उपयुक्ता तथा उपादेयता पर दृष्टिपात भी नहीं कर सके हैं। डॉ. रामखेलावन पांडेय को 'सौंदर्यशास्त्र सौंदर्य-विन्यास का विकल्प' लगता है।

**प्रभाववादी आलोचना**

शुक्लोत्तर-आलोचना की यह महत्त्वपूर्ण पद्धति आलोचक के मन पर पड़े हुए प्रभाव को आधार मानकर कृति विशेष का मूल्यांकन करती है। इसमें आलोचक सर्वप्रथम कृति का अध्ययन करता है, फिर उस पर चिंतन-मनन करता है और अंत में उस कृति पर अपनी सहमति-असहमति प्रकट करता है। इसमें आलोचना का कोई निश्चित मानदंड निर्धारित नहीं होता है तथा भिन्न-भिन्न कृतियों की आलोचनाएँ भी लिए हुए होती हैं। इस प्रकार की आलोचनाएँ आलोचक की रुचि पर तथा रुझान पर मुख्यतया आधृत होती हैं। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि विषय का सूत्र, संचालन सूत्र आलोचक के हाथ से छूट जाता है और प्रभाव ही अवशिष्ट रूप में शेष रहता है। इसमें आलोचक सही मूल्यांकन न करके कृति विशेष का रसास्वादन करता है। इसमें वैयक्तिकता की प्रधानता रहती है। आलोचक का इसलिए अपना प्रशासनिक निर्णय होता है। शांतिप्रिय द्विवेदी के निबंध इसी प्रवृत्ति को प्रतिबिंबित करते हैं। गंगाप्रसाद पांडेय की 'कामायनी : एक परिचय', भगवतशरण उपाध्याय की 'नूरजहाँ', भुवनेश्वर मिश्र की 'संत साहित्य' आदि कृतियाँ इसी प्रभाववादी पद्धति को विकसित करती हैं। डॉ. नगेंद्र की प्रथम कृति 'सुमित्रानंदन पंत', तथा 'देव और उनकी कविता', 'मैथिलीशरण गुप्त' - इसी पद्धति के मानक ग्रंथ है। इस प्रकार डॉ. नगेंद्र ऐसे समर्थ आलोचक हैं जिनकी आलोचना पद्धति में अनेक आलोचना प्रवृत्तियों एवं पद्धतियों का समाहार हुआ है। इस प्रकार की कृति विशेष निस्संदेह ही डॉ. नगेंद्र को प्रभाववादी आलोचक की श्रेणी दिला देती है।

प्रभाववादी आलोचना रुचि-वैचित्र्य की प्रसूता है। सार्वजनिक का इसमें अभाव खटकता है। मन पर कृति के पड़े हुए एकांगी प्रभाव का आकलन करती है। समग्रता से वंचित हो जाती है - एकपक्षीय दृष्टिकोण की यह

हिमायती है। इसमें आनंदानुभूति ही साहित्य का प्रयोजन समझा जाता है। आत्मसंस्कृति पर यह केंद्रित रहती है। स्व से पर की ओर इसकी दृश्टि नहीं होती। भावुकता, आवेश, एक पक्षीय दृष्टिकोण, समष्टि से व्यष्टि की ओर झुकाव, अतिशय भावानुभूति, आनंदानुभूति का प्रयोजन आदि तत्त्वों का समाहार प्रभाववादी आलोचना में मिलता है। हिंदी में अधिकांशतः एम, फिल, पी-एच. डी. तथा डी. लिट्. उपाधियों हेतु लिखे गये नामांकित शोध प्रबंध प्रभाववादी आलोचना को ही समृद्ध बना रहे हैं। इसके मूल में परीक्षक तथा निर्देशक की वैयक्तिक अभिरुचि व कृतिकार का प्रभाव की भावना सन्निहित होती है। शाधार्थी की प्रतिबद्धता उसे प्रभाववादी बना देती है। वह तटस्थतावादी दृष्टिकोण से स्वच्छंद स्वतंत्र मूल्यांकन नहीं कर सकता क्योंकि उसे निर्देशक एवं परीक्षक का भय लगा रहता है। उसे स्वतंत्र अभिव्यक्ति में शोध-प्रबंध अस्वीकृत होने की भी संभावना एवं शंका बनी रहती है। अतएव प्रभाववादी आलोचना चिंतन-दृष्टि की एक प्रक्रिया है। इसके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता, नजरंदाज नहीं किया जा सकता भले ही इसका एकांगी एक पक्षीय दृष्टिकोण रहा है।

हिंदी-आलोचना की अन्य महत्वपूर्ण पद्धति की तरह प्रभाववादी आलोचना भी एक महत्त्वपूर्ण आलोचना है। इस आलोचना का उद्भव आलोचक के मन पर पड़े हुए प्रभाव को आधार मानकर कृति विशेष की आलोचना से हुआ है। इसमें आलोचक कृति का सर्वप्रथम अध्ययन करता है, फिर उस पर चिंतन-मनन करता है और अंत में उस कृति पर अपनी आलोचना प्रस्तुत करता है। इसमें आलोचना का कोई निश्चित मानदंड निर्धारित नहीं होता है और भिन्न-भिन्न कृतियों की आलोचनाओं की भिन्नता लिए हुए होती हैं। इस प्रकार की आलोचनाएँ आलोचक के रुचि व रुझान पर मुख्यतः आधृत रहती हैं। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि विषय का सूत्र, संचालन -सूत्र आलोचक के हाथ से टूट जाता है और प्रभाव ही अवशिष्ट रूप में शेष रहता है। फलतः तथ्यातथ्य की गुंजाइश बहुत ही कम रहती है, क्योंकि प्रभावकारी प्रभाव ही सब कुछ होता है। इस पद्धति में आलोचक सही मूल्यांकन न करके कृति विशेष का रसास्वादन करता है। इसमें वैयक्तिकता की प्रधानता होती है, इसलिए आलोचक का अपना प्रशासनिक निर्णय होता है। श्री शांतिप्रिय द्विवेदी के निबंध इसी पद्धति को प्रतिबिंबित करते हैं। गंगाप्रसाद पांडेय की 'कामायनी एक परिचय' तथा भगवतशरण उपाध्याय का 'नूरजहाँ', रमेश ऋषिकल्प की 'अज्ञेय की कविता' इसी पद्धति को उजागर करते हैं। पं. भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' ने 'संत साहित्य' इसी पद्धति के माध्यम से लिखा था।

**चरितमूलक आलोचना**

इस आलोचना पद्धति के अंतर्गत कलाकार के व्यक्तित्व, उसके जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनायें, पर्यावरण, मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष, आलोच्यविषय, भाव, शैली तथा कलाकार के हाव-भाव, रुचि व रुझान आदि तथ्यों को मद्देनजर रखते हुए चरितमूलक आलोचना पद्धति आगे बढ़ती है। जीवन की विशेष घटनाओं का प्रभाव आलोचक पर पड़ता है और वह आलोचना के समय अपने आपको संबद्ध विषय में तिरोहित कर देता है। प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से उसके व्यक्तित्व की झलक उसके द्वारा की गयी आलोचना में स्वतः ही आ जाती है। आलोचक कलाकार के व्यक्तित्व को मनोवैज्ञानिक या ऐतिहासिक तरीके से समझने का प्रयास करता है।

इस आलोचना पद्धति के अंतर्गत कलाकार के व्यक्तित्व, उसकी जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ, पर्यावरण, मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष, आलोच्य विषय, भाव, शैली तथा कलाकार के हाव-भाव, रुचि व रुझान आदि तथ्यों को मद्दे नजर रखते हुए कृति का विश्लेषण किया जाता है। जीवन की विशेष घटनाओं का प्रभाव

आलोचक पर पड़ता है और वह आलोचना के समय अपने आपको संबंधित विषय में तिरोहित कर देता है इसमें आलोचक कलाकार के व्यक्तित्व को मनोवैज्ञानिक या ऐतिहासिक तरीके से समझाने का प्रयास करता है। शिपले के मतानुसार चरितमूलक आलोचना कलाकार एवं कथा कृति के प्रभावी संबंध का प्रतिपादन करती है। यह कलाकृति के उद्भव के मूल, प्रेरक शक्ति या उसके सचेतन उद्देश्य का संकेत करती है। 'बाबू गुलाबराय स्मृति ग्रंथ', 'डॉ. नगेंद्र अभिनंदन ग्रंथ' आदि अनेक ग्रंथावली चरितमूलक आलोचना के अंतर्गत ही गिने जाते हैं।

पं. गंगाप्रसाद पांडेय का 'महाप्राण निराला', डॉ. रामविलास शर्मा का 'निराला की साहित्य साधना', डॉ. रणवीर रांग्रा का 'डॉ. नगेंद्र : व्यक्तित्व और कृतित्व', डॉ. नगेंद्र का 'देव और उनकी कविता' तथा 'सुमित्रानंदन पंत' आदि ग्रंथ चरितमूलक, आलोचना पद्धति के अंतर्गत आते हैं। 'सुमित्रानंदन पंत' पुस्तक में छायावाद विश्लेषण में - सौंदर्य भावना, प्रकृति से रागात्मक संबंध, मानव जगत् के प्रतिभावना, पुरातन के प्रति प्रत्यावर्तन, आत्माभिव्यंजन (व्यक्तित्व), नीति-विद्रोह, करुणा की धारा, दुःखवाद, रहस्यवाद तथा शैली कला आदि बिंदुओं के प्रकाशन में आलोचना प्रस्तुत की गयी है।[150] पंत जी की रंगीन कला इतनी कोमल है कि विश्लेषण करते ही वह तितली के पंखों की तरह बिखर जाती है। और समालोचक को अपनी कृति पर पश्चाताप करने की ही अधिक संभावना रहती है।"[151] 'कलम के सिपाही', 'सरोज स्मृति' आदि ग्रंथ भी चरित मूलक आलोचना पद्धति को इंगित करते हैं। इसमें व्यक्ति विशेष को केंद्र-बिंदु मानकर आलोचना की जाती है जिसमें कृष्णपक्ष की अपेक्षा शुक्लपक्ष का अधिकाधिक विवेचन-विश्लेषण सहानुभूतिपूर्ण अभिव्यंजना शैली में किया जाता है।

हिंदी-आलोचना जो सन् 1950 से आज तक निरंतर विकासोन्मुख एवं विस्तार पाती जा रही हैं - इसी चरित मूलक पद्धति की देन कही जा सकती है। विश्वविद्यालय स्तर पर प्रोफेसर्स एवं साहित्यकारों का अभिनंदन समारोह एवं अभिनंदन ग्रंथ भेंट करने की परंपरा ने इसमें भरपूर सहयोग किया है। शिप्ले के मतानुसार चरितमूलक आलोचना कलाकार एवं कलाकृति के प्रभावी संबंध का प्रतिपादन उद्देश्य का संकेत करती है। पं. गंगाप्रसाद पांडेय का 'महाप्राण निराला' इस पद्धति का ज्वलंत उदाहरण है। साथ ही डॉ. रामविलास शर्मा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'निराला की साहित्य साधना', डॉ. रणवीर रांग्रा का 'डॉ. नगेंद्र : व्यक्तित्व और कृतित्व' आलोचक डॉ. नगेंद्र : कृतित्व के विविध आयाम आदि चरितमूलक आलोचना पद्धति को प्रस्तुत करते हैं।

**ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आलोचना**

शुक्लोत्तर-आलोचना में ऐतिहासिक-आलोचना पद्धति का भी आविर्भाव हुआ है। जिसके एकमात्र आलोचक डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं। द्विवेदी यद्यपि स्वच्छंदतावादी आलोचक हैं, फिर भी ऐतिहासिक आलोचना पद्धति के दर्शन उनकी आलोचनाओं में परिलक्षित होते हैं जो मानवतावादी स्वर में मुखरती होती है। डॉ. भगवत्स्वरूप मिश्र के अनुसार 'स्वच्छंदतावाद के साथ ही समीक्षा की ऐतिहासिक दृष्टि का भी शुक्लोत्तर विकास हुआ है। उस विकास की दृष्टि इस रचना में भी थोड़ी स्पष्ट हुई है। लेकिन उनका 'कबीर' स्पष्टतः ऐतिहासिक शैली के प्रौढ़ रूप का उदाहरण है।"[152] श्री द्विवेदी का 'हिंदी साहित्य की भूमिका' इसी पद्धति पर आधृत है। "शुक्लोत्तर-आलोचना में पहली बार धारा सांस्कृतिक और ऐतिहासिक आलोचना की है, जिसमें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कृतित्व निश्चय ही सर्वाधिक महत्त्व का है। यद्यपि यह भी सच है कि इस दिशा में डॉ. पीतांबरदत्त बड़थ्वाल जैसे खोजियों ने उनका कुछ काम आसान अवश्य किया, किंतु उनके पास मानवतावादी वह उदार दृष्टि नहीं थी जो परंपरा और शास्त्र की विवेचना तथा उसके निष्कर्षों को वर्तमान जीवन ने संयोजित

करती और इस प्रकार आलोचक को साहित्य का ही नहीं, मानव-समाज का भी पथप्रदर्शक बनाती। द्विवेदी जी ने कबीर के संबंध में तथा नाथपंथी योगियों के संबंध में जिस गंभीर ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक तथ्यों का अन्वेषण किया है, वह हिंदी-आलोचना की अमूल्य निधि और सांस्कृतिक ऐतिहासिक आलोचना का महत्त्वपूर्ण प्रतिमान माना जा सकता है।"[153]

आचार्य वाजपेयी ने यद्यपि द्विवेदी जी तथा गुप्त जी की आलोचना पद्धतिको साहित्य-समीक्षा तथा शोध-कार्य से ग्रसित होने का करार दिया था, लेकिन बाद में ऐतिहासिक-आलोचना पद्धति के वजह से ही प्रसन्नता वाजपेयी जी ने व्यक्त की। "हमें यह देखकर प्रसन्नता होती है कि डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ. माताप्रसाद गुप्त जैसे नये शोधकर्ताओं ने साहित्य-समीक्षा तथा शोध-कार्य का अंतर समझकर दोनों के बीच चक्कर लगाने की आदत छोड़ दी है।"[154] आचार्य वाजपेयी के कथन पर असहमति व्यक्त करते हुए आधुनिक आलोचक डॉ. रामचंद्र तिवारी ने सहमति व्यक्त की है और द्विवेदी जी के सही आलोचक रूप का आकलन किया है, "वे एक शोधकर्ता थे, किंतु उन्होंने कभी और कहीं इतिहास के जड़ तथ्यों का निरर्थक अंबार नहीं खड़ा किया। इतिहास के खण्डहरों में भटकते हुए उन्होंने तांत्रिकों की शव-साधना का आदर्श सामने रखा।"[155] निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आचार्य द्विवेदी जी ने सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक-आलोचना पद्धति का सूत्रपात करके डॉ. बड़थ्वाल जैसे आलोचकों की आलोचना पद्धति को शुक्लोत्तर आलोचना में परिष्कृत एवं प्रौढ़ बनाया। आचार्य द्विवेदी की आलोचना पद्धति में एक साथ अनेक पद्धतियाँ परिलक्षित होती हैं ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, स्वच्छंदतावादी तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से रूपायित उनकी आलोचना है जिसमें मानवतावादी, अनुसंधान परक, समाजवादी दृष्टियाँ व्यापक रूप से समन्वयवादी दृष्टि में समाहित हो गयी हैं।[156] साहित्येतिहास एवं समीक्षा की बृहत्तर ऐतिहासिक और सांस्कृतिक भूमिका को लेकर चलनेवाले समीक्षकों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की गणना शीर्षस्थानीय समीक्षक के रूप में की गयी है।[157]

**मिथकीय आलोचना**

मिथकीय आलोचना की पद्धति आधुनिक आलोचना पद्धति की नवीनतम पद्धति है जिस पर आधुनिक आलोचकों ने चिंतन करना प्रारंभ किया है। अभी तक यह मनोविश्लेषणवादी या रूपवादी पद्धति के अंतर्गत गिनी जाती थी, लेकिन शुक्लोत्तर युग में डॉ. नगेंद्र ने 'मिथक और साहित्य' नामक कृति रचकर मिथिक विधा के प्रसार एवं प्रचार का कार्य किया है। "मिथकीय आलोचना को मूल रूप से अन्तःशास्त्रीय कहा जाता है। साथ ही एकक दृष्टिकोण वाली आलोचना दृष्टि, जैसे मनोवैज्ञानिक या समाजशास्त्रीय दृष्टि से इसकी परिधि निश्चय ही अधिक व्यापक है, जो देशकाल सापेक्ष समग्रकृति को स्वीकारती है अर्थात् साहित्य का अध्ययन एकांत रूप में नहीं वरन् मानव चेतना की अन्य अभिव्यक्तियों जीव विज्ञान, नृतत्व शास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शन अथवा भाषा शास्त्र के परिप्रेक्ष्य में ही करती है इसलिए इसे अंतःशास्त्रीय कहा जाता है।

समीक्षक का मुख्य कार्य पुनर्निर्माण का है क्योंकि सच्चा समीक्षक आस्वाद्यन के समय अपनी हृदय स्थित भावनाओं तथा विचारों को समीक्षा रूप में पुनर्निर्मित करता है।[158] हिंदी-आलोचना अपनी सौ वर्ष की उम्र पूरी कर चुकी है। यही कारण है कि साहित्य में रुचि-वैचित्र्य एवं वैविध्य होना स्वाभाविक है। व्यक्ति सामाजिक परिवेश से कटकर भी साहित्य-सर्जन नहीं कर सकता। वह मानव संवेदना को भी नकार नहीं सकता। लोकमंगल,

लोकहिताय, लोकरंजन, वसुधैवकुटुंबकम् की भावना को तिलांजलि देना भी सच्चे आलोचक एवं साहित्यकार के लिए संभव नहीं है। इन सब का संबंध उसके मानसिक धरातल से है। उसके भाव, बुद्धि कल्पनाशक्ति से है। ऐसी स्थिति में उसकी मिथकीय चेतना उसे जाग्रत करती है, उसे ऊर्जा प्रदान करती है और वह सृष्टि-रचना में मानवीय जैवीयतत्व की उपयोगिता को भी संश्लिष्ट रूप में पाता है। हिंदी आलोचकों के लिए अभी यह आलोचना पद्धति एक नई पद्धति लगती है लेकिन धीरे-धीरे इसका विकास हो रहा है और नये समीक्षकों ने इस ओर अपना ध्यान आकृष्ट किया है तथा आशा है भविष्य में इसकी ओर और अधिक ध्यान दिया जाएगा एवं अन्य पद्धतियों की तरह मिथकीय आलोचना भी सुदृढ़ एवं सशक्त बनेगी। कुछ नये लेखक मिथकीय आलोचना को सक्रिय सहयोग दे रहे हैं उनमें डॉ. अनिलकुमार तिवारी, डॉ. शंभूनाथ, डॉ. कृष्णमुरारी मिश्र, डॉ. जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव आदि उल्लेखनीय हैं। चूँकि इन सभी अनुशासनों की मूलवर्ती संकल्पनायें प्रकारान्तर से आदिम मानव जीवन के साथ अभिन्न रूप से संबद्ध मिथक विद्या से जुड़ी हुई हैं, इसीलिए साहित्य की मौलिक अवधारणों के अधिगम के लिए मिथक विद्या का संदर्भ अनिवार्य हो जाता है जो स्थान-काल सापेक्ष एक अखंड रूप है।

इंद्रनाथ चौधरी के मतानुसार यह आलोचना मिथकीय अभिकल्पों को स्थायी शांति से परिचित कराती है जो अभिकल्प किसी भी प्रचलित विश्वास से मुक्त रहते हैं और इसीलिए साहित्य का बहुआयामी विश्लेषण संभव हो पाता है। कुल मिलाकर यह आलोचना मूल मानव वृत्तियों के व्यापक परिप्रेक्ष्य में अपना प्रसार करती है। यह आलोचना नयी समीक्षा की अव्याप्ति और शास्त्रीय समीक्षा की साहित्येतर व्याप्ति में संतुलन कायम करती है - यही इसकी सार्थकता है।

डॉ. रामचंद्र प्रसाद के अनुसार पाश्चात्य समीक्षा की रूप-रेखाओं को अंकित करनेवाले हिंदी के अन्य लेखकों की अब तक कोई भी ऐसी कृति प्रकाशित नहीं हुई है जिसमें वर्णित अद्यतन समीक्षा निकायों में मिथकीय समीक्षा भी शामिल कर ली गयी हो। डॉ. प्रतापनारायण टंडन, डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डॉ. राजेंद्र वर्मा, डॉ. तारकनाथ बाली, डॉ. शिवकरण सिंह, डॉ. रवींद्रसहाय वर्मा प्रभृति ने इस विषय का सतही निरूपण भी नहीं किया, गंभीर शोधमूलक विवेचन प्रस्तुत करने की बात तो दूर रही। इतना ही नहीं, जैसा कि डॉ. नगेंद्र ने स्वयं कहा है : भारतीय काव्यशास्त्र में मिथक अथवा काव्य के मिथकीय आधार का प्रत्यक्ष विवेचन नहीं मिलता।

यही कारण है कि 'मिथक और साहित्य' पर डॉ. नगेंद्र का चिंतन मौलिक एवं अभिनंदनीय है। हिंदी-आलोचना में मिथकीय आलोचना पद्धति का सूत्रपात करनेवाले डॉ. नगेंद्र सर्वप्रथम तलस्पर्शी सुधी आलोचक हैं। डॉ. नगेंद्र ने पाश्चात्य आलोचना से मिथक की व्युत्पत्ति तथा उसका साहित्य में प्रयोग-आदि तथ्यों को भारतीय काव्यशास्त्र में उसके नव्य दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुतीकरण किया है। उनका यह प्रयोग सर्वथा नूतन परिप्रेक्ष्य में आधुनिक हिंदी-आलोचना को एक नया आयाम एवं विस्तार देता है। डॉ. पूर्णमासी राय के शब्दों में "आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'मिथक और आधुनिकता' पर तत्त्वान्वेषी की दृष्टि से विचार किया है।"[159]

डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव ने 'मिथकीय समीक्षा : आधुनिक और परंपरागत संदर्भ' - निबंध में डॉ. नगेंद्र की आलोचना कृति 'मिथक और साहित्य' का विवेचन-विश्लेषण किया है तथा इसकी आवश्यकता पर विशेष बल दिया है। उनकी धारणा है कि 'मिथक भी संप्रेषण को साधने वाली एक प्रकार की भाषा है जिसका संप्रेष्य मात्र कथ्य नहीं, वरन् 'अभिप्रेत' होता है और जिसकी अभिव्यक्ति भाषायें की दुहरी प्रतीकीकरण की प्रक्रिया का

परिणाम है।' डॉ. नगेंद्र तथा डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मिथकीय आलोचना को आगे बढ़ाने में सक्रिय सहयोग किया है।

डॉ. गोपल राय ने अपने लेख 'साहित्य में मिथक-प्रयोग : समीक्षक की दृष्टि' में मिथक और साहित्य पर अनुशीलन किया है। उन्होंने मिथकीय आलोचना की ओर झुके समीक्षकों के लिए प्रस्तुत डॉ. नगेंद्र की कृति की उपादेयता पर भी प्रकाश डाला है। इस प्रकार यह पद्धति आधुनिक आलोचकों को एक नवीन दिशा में सोचने को बाध्य करती है जिसका श्री गणेश डॉ. नगेंद्र ने अपनी कृति के माध्यम से किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह पद्धति आलोचना की एक विशेष पद्धति है जिसको स्वयं डॉ. नगेंद्र ने स्वीकारा है : "मिथकीय समीक्षा ने साहित्यालोचन के एक नये आयाम का उद्घाटन किया है। साहित्य की संरचना की व्याख्या का एक नया मार्ग प्रशस्त किया है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। साहित्य का मूल मानव-वृत्तियों के साथ सहजात संबंध स्थापित कर उसे एक व्यापक पीठिका पर प्रतिष्ठित करना भी मिथकीय समीक्षा की विशेष उपलब्धि है।"[160] अतएव मिथकीय समीक्षा पद्धति भी धीरे-धीरे अपना स्वरूप निखार रही है। यह हिंदी-आलोचना के लिए एक शुभ संकेत है। इसमें कृति और कृतिकार के सभी अर्थ संदर्भों का अनुशीलन किया जाता है। विभिन्न ज्ञान-विज्ञान के प्रात्ययों और पारिभाषिक शब्दों पर विशेष बल दिया जाता है जिन्होंने अपनी कृतियों के माध्यम से विविध आलोचना पद्धतियों को अपनाकर हिंदी-आलोचना के भंडार को समृद्ध किया है। डॉ. मेघ, डॉ. वीरेंद्र सिंह, डॉ. महावीर दधीचि आदि नए लेखकों ने इसमें रुचि दर्शायी है।

**समन्वयवादी आलोचना**

समन्वय शब्द अपने पारिभाषिक अर्थ में अंग्रेजी भाषा के सिंथेसिस का पर्याय है जिसके लिए हारमनी, क्वार्डिनेशन आदि शब्द का भी प्रयोग होते हैं। हिंदी भाषा का संश्लेषण शब्द भी जोड़ना, जुटाना, मिलाना, संलग्न करना, लगाना, संबद्ध करना, विभिन्न कारणों या परिणामों पर विचार कर संबंध दिखाना, मिलान करना आदि इसी आशय की पुष्टि करते हैं। संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ के अनुसार समन्वय शब्द संयोग, मिलन, मिलाप, विरोध का अभाव, कार्यकरण का प्रवाह या निर्वाह को परिभाषित करता है। 'भोजन देहि राजेंद्र, घृत-सूप समन्वितम्' इसी संश्लेषण की अभिव्यक्ति है। समन्वयवादी आलोचना हिंदी समीक्षा की वह पद्धति है जिसमें अनेक प्रवृत्तियों एवं पद्धतियों का पूर्णरूपेण समाहार हुआ है। यह सामंजस्य कर स्वर ध्वनित करती है जिस पर भारतीय संस्कृत काव्यशास्त्र के साथ-साथ पाश्चात्य आलोचना का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। मूल रूप में यह सामंजस्य पर आधृत होती है जिसकी परिणति मिलन में है। अव्यवस्था में व्यवस्था तथा अनेकता में ऐक्य स्थापन ही इसका मुख्य ध्येय है।

समन्वयवादी आलोचना में सामंजस्य ही सौंदर्य है - सौंदर्य ही समन्वय है और समन्वय ही कला या साहित्य है - की पुष्टि प्रकारांतर हो जाती है। "हिंदी साहित्य के क्षेत्र में समन्वयात्मक-आलोचना की प्रवृत्ति के मूल में पाश्चात्य तथा भारतीय समीक्षाशास्त्र के मुख्य सिद्धांतों के समन्वय की भावना है। इस आलोचना प्रवृत्ति में प्रमुख विचारकों ने भारतीय साहित्यशास्त्र तथा पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र का अध्ययन करके उनमें से उन तत्त्वों को ग्रहण किया है, जो साहित्य के मूल्यांकन का व्यापक दृष्टिकोण करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।"[161] डॉ. नगेंद्र ने भी इसकी पुष्टि कर दी है : "भारतीय भाषाओं की समीक्षा पर संस्कृत तथा पाश्चात्य आलोचना सिद्धांतों का

गहरा और व्यापक प्रभाव है। जिस प्रकार वर्तमान जीवन के परिप्रेक्ष्य में भारत की प्राचीन संस्कृति और पश्चिम की नवीन संस्कृति के संयोग से आधुनिक भारतीय संस्कृति के स्वतंत्र रूप का विकास हुआ है। इसी प्रकार वर्तमान भारती की साहित्य चेतना की भूमि पर संस्कृत तथा पाश्चात्य सिद्धांतों के संश्लेषण से भारतीय समीक्षा का भी स्वतंत्र अस्तित्व उभरकर आया है।"[162]

समन्वयवादी आलोचना भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के संश्लिष्ट सिद्धांत सूत्रों का सम्मिश्रण एवं समन्वित रूप की विकसित अवस्था है। समन्वय जहाँ पर सामंजस्य का वाचक सिद्ध होता है तथा सौंदर्य की अभिव्यक्ति पाता है - वही पर वह साहित्य निकष बन जाता है। सर्जना तथा विवेचना दोनों स्तर पर समन्वयवादी अभिव्यंजना मुखरित होती है। मध्ययुगीन आलोचना मुख्यतः काव्य-समीक्षा रही है - में भी समन्वयवादी तत्त्व यत्र-तत्र परिलक्षित होते हैं। संत कवियों में कबीर, सूर, तुलसी तथा सर्वांग-निरूपक आचार्यों में केशव, चिंतामणि, कुलपति, देवदास, सोमनाथ, प्रतापसिंह आदि हैं। सर्वरस-निरूपक आचार्यों में रसीलीन, रामसिंह, पद्माकर, बेनीप्रवीन, ग्वाल आदि ने इस परंपरा का निर्वाह किया है। शृंगार निरूपक परंपरा में मतिराम, सुखदेव आदि का प्रयोग ऐतिहासि महत्व रखता है तथा एक नव्य परिदृष्य का निर्माण करता है।

कबीर की महती साधना में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आत्मा-परमात्मा तथा जीव-जगत के समन्वय में स्वीकार किया है। उन्हीं के शब्दों में "सर्व धर्म समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है, वह वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पायी जाती है।"[163] सूर में समन्वयवादी प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए उन्होंने कहा है, 'सूरसागर' पर एक सरसरी निगाह दौड़ाने पर भी यह स्पष्ट हो जाएगा कि सूरदास की राधा न तो विलासिनी है और न ग्वालिनी। इन दोनों रूपों का एक विचित्र सामंजस्य है मानो सूरदास का अभिष्ट प्रतिपाद्य है।[164] तुलसीदास को समन्वय के आधार पर ही उन्होंने लोकनायक घोषित किया है। "भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके, क्योंकि भारतीय समाज में नाना भाँति की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनायें, जातियाँ, आधारनिष्ठा और विचार पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे। लोक और शास्त्र के इस व्यापक ज्ञान ने उन्हें अभूतपूर्व सफलता दी है। उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, पांडित्य एवं अपांडित्य का समन्वय-रामचरितमानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है। इस महान समन्वय के प्रयत्न का आधार उन्होंने रामचरित चुना।"[165] इस प्रकार मध्ययुगीन समीक्षा में भी समन्वयवादी परंपरा रही है और इसका प्रयोग कवि-समीक्षकों ने यत्र-तत्र बिखरे हुए रूपों में किया है। रीतिकालीन आचार्यों ने इस ध्वनि तथा अलंकारों का सामंजस्य स्थापित करने की भरपूर चेष्टा की है जिसका श्रीगणेश मम्मट के 'काव्यप्रकाश' से होता है। मम्मट जैसे आचार्यों को भी अलंकारों की प्रधानता रस और ध्वनि को छोड़कर अन्य सभी तत्त्वों की अपेक्षा अधिक माननी ही पड़ी थी फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि ध्वनिकार के प्रयास के फलस्वरूप काव्यांगों में एक सामंजस्य स्थापित करने की प्रवृत्ति जागृत हो ही गयी थी। अभिनवगुप्त ने इस समन्वय का बहुत ही स्पष्ट एवं सफल प्रयास किया है। मम्मट तो इस समन्वयवादी दृष्टिकोण के प्रधान आचार्य ही हैं। उनके परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों में इसी का प्राधान्य पाया जाता है। जिस काल एवं परंपरामें हिंदी रीति ग्रंथों के प्रणयन की अविरल धारा का प्रारंभ हुआ था, वे समन्वयवादी ही थे।"[166]

डॉ. नगेंद्र ने ठीक ही कहा है कि "वास्तव में यह समन्वय चेतना की सबसे बड़ी सिद्धि है। व्यापक साहित्य का मूल उपदान है। इसी को दृष्टि में रखते हुए संस्कृत के आचार्यों ने महाकाव्य के लिए नाना रसों से विभूषित होना आवश्यक माना है।"[167] समन्वयवादी आलोचना के तत्त्व भारतेंदु-युग में पत्र-पत्रिकाओं में परिलक्षित होते हैं। काव्य के साथ निबंध, नाटक, उपन्यास, कहानी और समीक्षा आदि विधाओं का आविर्भाव इसी युग में हुआ। यह युग प्रधानतया पूरबी-पश्चिमी, स्वदेशी-विदेशी के सामंजस्य का विवेकी युग था। समन्वयवादी समीक्ष पौरस्त्य और पाश्चात्य, प्राचीन और नव्य दृष्टिकोणों के बीच सामंजस्य का उदात्त स्वर प्रतिध्वनित कर रही थी। यह सान्धिकालिक युग था, जिसमें प्रौढ़ सिद्धांत-निरूपण या विशिष्ट व्यावहारिक-प्रयोगात्मक समीक्षा की संभावना ही नहीं हो सकती थी। "वैचारिक दृष्टि से भारतेंदु-युगीन आलोचना में समन्वयवादी आलोचना के तत्त्व नवीन रूप से समन्वित थे, लेकिन उसकी परंपरा में स्थायित्व न था। तात्पर्य यह कि भारतेंदु-युग में एक ओर तो परंपरागत संस्कृत समीक्षा सिद्धांतों को विकसित करने की मनोभूमि निर्मित हुई और दूसरी ओर नवीन ढंग की व्यावहारिक समीक्षा का सूत्रपात हुआ।"[168] इस युग में भारतेंदु हरिश्चंद्र के अतिरिक्त बद्रीनारायण उपाध्याय, बालकृष्ण भट्ट, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री तथा बालमुकुंद गुप्त आदि समीक्षकों ने उसी परंपरा को आगे बढ़ाने में सहयोग किये। "वे पाश्चात्य आलोचना के सिद्धांतों के साथ-साथ भारतीय आलोचना की परंपरा का ज्ञान तथा उसका रक्षण भी आवश्य समझते थे।"[169]

द्विवेदी-युगीन आलोचना में सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनो पक्षों का मणिकांचन समन्वय है। सैद्धांतिक पक्ष संस्कृत काव्य-शास्त्रीय प्रतिमानों रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि से प्रभावित था तथा व्यावहारिस पक्ष पाश्चात्य  परंपरा से अनुप्राणित था। नीति, औदात्य, सुरुचि की वेदी पर शास्त्रीयता की भंगिमा में समन्वयवादी, पुनरुत्थानवादी तथा नूतनवादी समीक्षा पद्धतियों की भी परंपरा इस युग में रही है। डॉ. नगेंद्र के शब्दों में, "संस्कृत तथा पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों के समन्वय से आधुनिक समीक्षा शास्त्र के निर्माण के भी प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रयास इस समय हुए।"[170] इस युग के अन्य प्रमुख समीक्षक मिश्रबंधु हैं - जिनमें गणेशबिहारी, श्यामबिहारी तथा शुकदेवबिहारी मिश्र हैं। शास्त्रीय मान्यताओं तथा परंपराओं के सामंजस्य पर, मिश्रबंधुओं की निर्णयात्मक समीक्षा आधृत है। डॉ. श्यामसुंदर दास का 'साहित्यालोचन' एक मानक ग्रंथ के रूप में प्रतिष्ठित है। साहित्यालोचन-सैद्धांतिक रूप की चरम परिणति का समीक्षा ग्रंथ है। इसकी पुष्टि डॉ. बैंकट शर्मा के इन शब्दों से हो जाती है : "बाबू साहब ने साहित्यालोचन की रचनाकार समालोचन के सैद्धांतिक पक्ष का विवेचन भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि की समन्वय साधना के रूप में किया है।"[171] डॉ. नगेंद्र ने भी इस तथ्य को खुले शब्दों में स्वीकार किया : "बाबू जी की सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाओं में भारतीय तथा पश्चिम काव्य सिद्धांतों को समन्वित करने का प्रयत्न लक्षित होता है। अपनी भूमिकाओं में भी उन्होंने दोनों के समन्वय पर बार-बार बल दिया है।"[172]

शुक्ल-युगीन आलोचना में आचार्य शुक्ल ऐसे प्रमुख हस्ताक्षर हैं जिन्होंने हिंदी साहित्य का इतिहास तथा सूर, तुलसी एवं जायसी पर लिखे भूमिकाओं के माध्यम से समीक्षाशास्त्र को एक नयी दिशा एवं नयी गति प्रदान की है। उन्होंने जीवन के व्यापक परिवेश में लोकमंगल के फलक पर साहित्य एवं कला को निरखने-परखने की चेष्टा की है। पाश्चात्य एवं भारतीय परिप्रेक्ष्य को समन्वित रूप में वाणी देने का नया उपक्रम आचार्य शुक्ल ने ही किया है। पाश्चात्य काव्य सिद्धांत 'कला के लिए कला' को भारतीय काव्यशास्त्र में सामंजस्य पर आधृत कर

समन्वयवादी स्वर देनेवाले समीक्षक आचार्य शुक्ल ही हैं। यही कारण है कि डॉ. नगेंद्र ने शुक्ल जी को आधुनिक भारत के संश्लिष्ट काव्यशास्त्र का मेरुदंड कहा है। "वे पाश्चात्य साहित्य की उन्हीं अवधारणाओं को ग्रहण करते हैं, जो भारतीय परंपराओं एवं परिवेश के अनुकूल पड़ती हैं। वे सामंजस्यवादी हैं। पूर्व और पश्चिम के सत पक्ष का अपूर्व सामंजस्य एवं विलक्षण व्यक्ति उनकी आलोचना का प्रधान लक्षण है।"[173]

डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने भी इसकी पुष्टि कर दी है : "शुक्ल जी द्वारा गृहीत इस पद्धति को हम व्याख्यात्मक पद्धति कह सकते हैं, जिसमें उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य पद्धतियों का समन्वय प्रस्तुत किया है।"[174] डॉ. कन्हैयालाल सहल के शब्दों में समीक्षा क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी देन है पौवर्त्य तथा पाश्चात्य सिद्धांतों का समन्वय करते हुए रस सिद्धांत की स्थापना। आचार्य शुक्ल ने स्वयं कहा है कि "काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना, जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकालकर उसे विश्व-व्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे-ऊँचे उद्देश्य आ जाते हैं। इसी लक्ष्य के साधन से मनुष्य का हृदय जब विश्व हृदय भगवान के लोकरक्षक और लोकरंजक हृदय से जा मिलता है, जब यह भक्ति में लीन कहा जाता है। उस दशा में धर्म, कर्म और ज्ञान के साथ उसका पूर्ण सामंजस्य घटित हो जाता है।"[175] डॉ. भगवत्स्वरूप मिश्र के मतानुसार आचार्य शुक्ल ने इन दोनों परंपराओं के काव्य-सिद्धांतों में सामंजस्य भी स्थापित किया है। उनकी काव्य संबंधी अपनी एक मौलिक धारणा है। इस धारणा का कलेवर और आत्म दोनों प्राचीन भारतीय काव्य परंपरा की सामग्री से निर्मित हैं।

आचार्य शुक्ल के अतिरिक्त समन्वयवादी आलोचना की परंपरा में डॉ. श्यामसुंदर दास, बाबू गुलाबराय, रामदहिन मिश्र, पं. बलदेव उपाध्याय, लक्ष्मीनारायण सुधांशु आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। बाबू गुलाबराय ने स्पष्ट कहा है कि "मेरा दृष्टिकोण सर्वत्र और इसलिए आलोचना में भी समन्वयवादी है। काव्य कला और साहित्यांगों के विवेचन में मैंने इसी पद्धति को अपनाया है। मैंने अपने ग्रंथों में देशी-विदेशी विद्वानों के मतों का समन्वय करके ही अपनी परिभाषायें दी हैं। हमारे प्राचीन जीवन का परम लक्ष्य माना गया है, साहित्य का कार्य समन्वय और समीकरण है, विभाजन नहीं।" डॉ. संकटाप्रसाद मिश्र ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है : "बाबू गुलाबराय ने सिद्धांत और व्यवहार का सामंजस्य करके समीक्षा के सुगम, सुबोध और सुस्पष्ट बनाकर सर्वजन सुलभ बनाने में अपूर्व सहयोग दिया है। समीक्षा के सभी उपयोगी अंगों का समन्वित रूप बाबू गुलाबराय की आलोचना में मिलता है।"[176] इसी परंपरा को आगे बढ़ाने में डॉ. रामकुमार वर्मा, कृष्णशंकर शुक्ल, विश्वनाथ प्रसाद, डॉ. सत्येंद्र तथा प्रो. शिलीमुख आदि समीक्षकों ने भरपूर योगदान दिया है। साहित्य सार्वभौमिक सत्य का उद्घाटन करता है। वह समय, स्थान, व्यक्ति, देश एवं पद्धति विशेष के संकुचित दायरे से सर्वथा मुक्त होता है। समन्वयवादी आलोचना सर्वमान्य साहित्य-निकष की हिमायती है। इसमें सामंजस्य, समन्वय, सम्मिश्रण, समीकरण आदि शब्द पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं। यह सामंजस्य को सौंदर्य का पर्याय घोषित करती है। सहिष्णुता, संभाव, संतुलन तथा उदारता आदि नैतिक गुणों का समाहार इसमें परिलक्षित होता है। समन्वयवादी आलोचना सौंदर्यनुभूति को ही प्रकारांतर से रसानुभूति घोषित करती है। यह साहित्य की विभिन्न चिंतन-दृष्टियों का समन्वय भाव तत्त्व, विचार तत्त्व एवं भाषिक संरचना के आधार पर करती है। शुक्लोत्तर समीक्षा में समन्वयवादी तत्त्वों का समाहार अधिकांश समीक्षा पद्धतियों में मिलने का प्रमुख कारण अनुभूति और अभिव्यक्ति का तादात्म्य रहा है। भाव और अभिव्यंजना का पूर्ण सामंजस्य इसमें विद्यमान रहता है। इस युग के समीक्षकों का क्षेत्र छायावाद के इर्द-गिर्द रहा है जिसमें सामंजस्य ही सौंदर्य है - सौंदर्य ही कला या साहित्य का अपर नाम है - प्रकारांतर से घोषित हुआ है।

शुक्लोत्तर-आलोचना के समन्वयवादी परंपार के वृहत्त्रयी आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ. नगेंद्र हैं। इनके अतिरिक्त रामअवध द्विवेदी, डॉ. केसरीनारायण शुक्ल तथा डॉ. राकेश गुप्त हैं। शुक्लोत्तर समीक्षा में विभिन्न साहित्यिक वादों का आविर्भाव हुआ जिसमें स्वच्छंदतावाद, प्रगतिवाद, अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद, अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषण आदी वादों की प्रवृत्तियों ने सौष्ठववादी, स्वच्छंदतावादी, मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणवादी, रसवादी, सौंदर्यशास्त्रीय, प्रभाववादी, शैली वैज्ञानिक, चरितमूलक, ऐतिहासिक व सांस्कृतिक समीक्षा पद्धतियों को विकसित किया। इस समन्वय कार्य में पुनराख्यानात्मक विवेचन पद्धति अधिक काम्य सिद्ध हुई है। संस्कृत तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र समन्वय के आधार पर रचा गया नव्य काव्यशास्त्र एक ओर जहाँ नये साहित्य की समीक्षा के लिए उपयुक्त सिद्ध हुआ है, वहाँ पाश्चात्य आधुनिक काव्यशास्त्र की भ्रांतियों का निराकरण भी संभव हो सका है।[177]

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की समीक्षा पद्धति सामंजस्य का उदात्त स्वर ध्वनित करती है। भारतीय रस-सिद्धांत का पाश्चात्य संवेदनीयता से समन्वय स्थापित कर उसे व्यापक धरातल प्रदान करनेवाले समन्वयवादी समीक्षक आचार्य वाजपेयी हैं। डॉ. भगवतस्वरूप मिश्र के शब्दों में "एक नवीन पद्धति विकसित हो रही है जिसे समन्वयवादी नाम दिया जा सकता है। इस समन्वय का सबसे अधिक श्रेय वाजपेयी जी को है।"

डॉ. प्रतापनारायण टंडन ने भी इसी की पुष्टि इन शब्दों द्वारा की है : श्री नंददुलारे वाजपेयी हिंदी के वर्तमान समीक्षकों में हैं जिनमें प्राचीनता एवं नवीनता का संतुलित समन्वय मिलता है। उनमें भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धांतों का भी समिश्रण हैं। मुख्यतः एक समन्वयकारी समीक्षक का रूप ही उसमें प्रधान रहा है। साहित्य को सामंजस्य के स्तर पर जाँचने-परखने का कार्य सर्वप्रथम शुक्लोत्तर समीक्षा में आचार्य वाजपेयी ने ही किया था। उनकी समीक्षा पद्धति का सातवाँ बिंदु काव्य के जीवन संबंधी सामंजस्य ही है। सामंजस्य ही सौंदर्य है और सौंदर्य ही समन्वय है - वाजपेयी जी की समीक्षा में पर्याय बनकर आते हैं। यही कारण है कि डॉ. प्रतापनारायण टंडन, डॉ. रामचंद्र तिवारी, डॉ. सत्यदेव मिश्र तथा डॉ. भगवतस्वरूप मिश्र आदि समीक्षकों ने एक स्वर से उन्हें समन्वयवादी समीक्षक घोषित किया। उनकी समीक्षा में पाश्चात्य की सौंदर्य चेतना भारतीय रसवाद से समन्वित होकर साहित्यानुशीलन में सामंजस्य पर ही अवलंबन लेती है क्योंकि साहित्य का मुख्य प्रयोजन आत्मानुभूति है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी मूलतः समन्वयशील समीक्षक हैं। उनकी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, अनुसंधानपरक एवं स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ समन्वयवादिता के धरातल पर सामंजस्य स्थापित करती हैं। यही उनकी मानवतावादी दृष्टिकोण की सबसे बड़ी विशेषता है। उनकी सूक्ष्म पैनी दिव्य दृष्टि, चिंतन-मनन की क्षमता, गहरायी में जाने का साहस, दो टूक बात कहने का उत्साह एवं समझ तथा वादी साहित्य से मुक्ति की अभिलाषा उन्हें समन्वयवादी समीक्षक की श्रेणी दिला देती है। भारतीय समीक्षाशास्त्र के क्षेत्र में वे पाश्चात्य अनुशीलन को बाधक नहीं, अपितु साधक के रूप में स्वीकारते हैं। वे सदैव ऐक्य में, समन्वय में, समग्र में तथा समष्टि में विश्वास करते हैं। काव्य और विज्ञान एक ही मानवीय चेतना के दो किनारों की उपज हैं, वे परस्पर विच्छिन्न नहीं हैं, परस्पर विरुद्ध तो नहीं ही हैं। सौंदर्यशास्त्र का आलोचक इसी परस्पर असंबद्ध और विच्छिन्न-सी लगनेवाली रस प्रेरणा के स्रोतों में सामंजस्य खोजता है। द्विवेदी जी 'सामंजस्य का खोजना' सत्साहित्य के लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य समझते हैं। एकत्व तथा एक तत्त्व की अनुभूति ही उनके अनुसार मनुष्य की चरम मनुष्यता है। तुलसीदास के काव्य की सफलता का एक और रसह्य उनकी अपूर्व समन्वय शक्ति है। उन्होंने कबीर के पदों में समन्वयवादी

स्वर को रेखांकित करते हुए कहा है कि "सर्वधर्म समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पायी जाती है।"[178] वे उपन्यास के संबंध में कहते हैं कि इन सबके सामंजस्य से ही उपन्यास की कक्षा मनोरम होती है।[179] नाटक के विवेचन में उनकी स्पष्ट अवधारणा है : मनुष्य नाना प्रकार की दुर्बलताओं और शक्तियों का समन्वय है, उसका अनुकरण भी वैसा ही होना चाहिए और सही बात यह है कि अन्यान्य साहित्यांगों की भाँति नाटक का भी चरम लक्ष्य वही मंगलमय ऐक्यानुभूति है।[180] साहित्यिक समालोचना और निबंध शीर्षकांतर्गत द्विवेदी जी ने संतुलित दृष्टि पर विशेष बल दिया है। उनकी संतुलित दृष्टि सम्यक् एवं समन्वयवादी दृष्टि है जो सामंजस्य पर आधृत है। यह समग्र में विश्वास करती है। यह व्यक्ति की नहीं समष्टि की हिमायती है। द्विवेदी जी भाषा, भाव, पदार्थ, शब्द, लय, छंद, बिंब, प्रतीक आदि तत्त्वों एवं अवस्थाओं में भी इसी सामंजस्य का निकष लागू करते हैं। उन्हीं के शब्दों में "शब्द प्रतीकों द्वारा प्रक्षेपित अर्थ (पदार्थ) दोनों स्वतंत्र व्यवस्थाओं के बीच सामंजस्य स्थापित करके ही सार्थक बनते हैं। भाषा दोनों व्यवस्थाओं के बीच जब तक सामंजस्य नहीं करती, तब तक चरितार्थ नहीं होती।"[181] द्विवेदी जी की दृष्टि सदैव सामंजस्य पर टिकी रहती है। हिंदी साहित्य का इतिहास-लेखन में उनकी अवधारणा है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना साहित्य का इतिहास कहलाता है।[158]

आचार्य शुक्ल की परंपरा को आगे बढ़ानेवाले समन्वयवादी डॉ. नगेंद्र हैं। आचार्य शुक्ल रस को मनोवैज्ञानिक धरातल पर छोड़ देते हैं - वहीं पर आचार्य द्विवेदी का रसवाद मानवतावादी फलक पर आधृत है। डॉ. नगेंद्र ने रसवाद को आनंद एवं कल्याणवादी मूल्यों में प्रतिष्ठित किया है जो मनोवैज्ञानिक आधार पर अवलंबित है। सहभाव- समन्विति का स्वर ध्वनित करनेवाले समन्वयवादी समीक्षा के अधिष्ठाता डॉ. नगेंद्र हैं। भामह का शब्द अर्थ का सहभाव, कुंतक का शब्द अर्थ दोनों का तादात्म्य, अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित भाव की निर्विघ्न प्रतीति और उधर अरस्तु, रिचर्ड्स आदि समीक्षकों द्वारा प्रस्तुत काव्यानुभूति-विषयक धारणाओं में सामंजस्य स्थापित कर डॉ. नगेंद्र ने समन्वयवादी समीक्षा की परंपरा को सशक्त बनाया है। आचार्य शुक्ल ने रस में अनुभूति और उपयोगिता, भाव और सामाजिकता का समन्वय कर उसे लोकमंगल से जोड़ दिया था किंतु डॉ. नगेंद्र ने रसानुभूति के साथ ही आनंद के काव्य का मूल और अंतिम प्रयोजन घोषित किया है तथा उसमें मंगल का अंतर्भाव कर दिया है। समीक्षा-जगत् में आचार्य नगेंद्र की देन मुख्य रूप से समन्वयवादी समीक्षा की व्याख्या है। डॉ. श्यामसुंदर दास, बाबू गुलाबराय, आचार्य वाजपेयी एवं आचार्य द्विवेदी आदि ने रस को आनंदरूप में ही स्वीकारा है, लेकिन आचार्य शुक्ल हृदय की मुक्तावस्था द्वारा अपनी स्थापना इस परंपरा से हटकर करते हैं, वहीं डॉ. नगेंद्र रस को विशुद्ध अनुभूति के रूप में स्वीकारते हैं जिसके आधार आधुनिक मनोविज्ञान तथा भारतीय दर्शन एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र हैं। भावतत्व और कलातत्व का समन्वय, संवेदनों में सामंजस्य, अंतःवृत्तियों का समन्वय रसानुभूति डॉ. नगेंद्र की प्रबुद्ध समीक्षक व्यक्तित्व ही पूरब और पश्चिम के समन्वय से निर्मित है। यह विरोधी तत्त्वों की समन्विति की पीठिका पर प्रतिष्ठित हैं और एक नवीन संश्लिष्ट काव्यशास्त्र के उदय के लिए सतत प्रयत्नशील है।

समन्वयवादी आलोचक डॉ. नगेंद्र सामंजस्य में ही सौंदर्य देखने के आकांक्षी हैं। 'शिक्षा का प्रयोजन' निबंध उनकी समन्वयवादी समीक्षा का इन शब्दों में साक्ष्य प्रस्तुत करता है : "विद्या और धर्म का यह समन्वय समंजस्य

मानव व्यक्तित्व का निर्माण का आधार हा और आज भी शिक्षा का चरम उद्देश्य है। मानव व्यक्तित्व के विकास का रहस्य इस सामंजस्य साधना में निहित है। सामंजस्य का अर्थ है मानव प्रवृत्ति की आधारभूत वृत्तियों का समन्वय और ये आधारभूत वृत्तियाँ सामान्यतः तीन हैं - भाववृत्ति, ज्ञानवृत्ति एवं कर्मवृत्ति। जहाँ इन तीनों वृत्तियों का समंजन हो जाता है वहाँ जीवन और व्यक्तित्व में अनायास ही सौंदर्य का समावेश हो जाता है। भाव के स्तर पर जो प्रेम है, ज्ञान के स्तर पर वही सत्य है और कर्म के क्षेत्र में वही श्रेय का पर्याय बन जाता है और इन तीनों का समन्वय ही व्यक्ति के स्तर पर आत्मसिद्धि है। सर्जना को अखंड प्रक्रिया के रूप में मान्यता प्रदान करते हुए डॉ. नगेंद्र सौंदर्य को सामंजस्य का वाचक सिद्ध करते हैं : इसी प्रकार सौंदर्य पूर्ण धर्मा ही होता है - वह सामंजस्य का ही वाचक है। अनेकता में एकता ही स्थापना ही कला है, वही सौंदर्य है। अतः सौंदर्य की अभिव्यक्ति, जो साहित्य या कला का अपर नाम है, अनुभूति और अभिव्यक्ति की पूर्णता की ही वाचक है। भावात्मक रूप में साहित्य अखंड अभिव्यक्ति या अखंड अनुभूति अखंड अभिव्यक्ति का पर्याय है। सच्ची कला असीम और सीम, अनेकता और एकता, विघटन और संगठन, विषम और सम, वैषम्य और साम्य, असाधारण और साधारण, अव्यवस्था और व्यवस्था आदि के भेद को मिटाकर सार्वभौमिक बनती है। सार्वकालिक स्तर पर उसका विस्तार होता है। सामंजस्य ही कला का विस्तार स्तंभ है। समन्वय कला का प्राणतत्व है। समन्वय के अभाव में सच्ची कला जिंदा नहीं रह सकती। इस प्रकार समन्वयवादी आलोचना सशक्त आलोचना पद्धति कही जा सकती है।

**(उपर्युक्त आलोचना - प्रवृत्तियाँ डॉ. पशुपति नाथ उपाध्याय के 'हिंदी आलोचना विकास एवं प्रवृत्तियाँ' से साभार)**

## प्रश्नमंजुषा

**भारतीय काव्यशास्त्र**

1. भारतीय साहित्यशास्त्र के विकास का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. भरत मुनी के रससूत्र की विविध आचार्योंद्वारा की गई व्याख्याओं का विवेचन किजिए।
3. साधारणीयकरण की अवधारणा के संबंध में भट्टनायक से लेकर आ. रामचंद्र शुक्ल तक प्रमुख आचार्यों के मतों का सामान्य परिचय दीजिए।
4. 'अलंकार' की परिभाषा देकर अलंकार सिद्धांत का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
5. रीति के विविध भेदों का परिचय दीजिए।
6. ध्वनि की परिभाषा देकर ध्वनि और स्फोट सिद्धांत का संबंध स्पष्ट किजिए।
7. ध्वनि के भेदों का परिचय दीजिए।
8. ध्वनि के आधार पर काव्य के भेदों का विवेचन किजिए।
9. कुंतकपर्व वक्रोक्ति विचार पर प्रकाश डालिए।
10. कुंतक का वक्रोक्ति विचार स्पष्ट करते हुए वक्रोक्ति के प्रकारों का परिचय दीजिए।
11. वक्रोक्ति सिद्धांत का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसका महत्व स्पष्ट कीजिए।
12. आ. क्षेमेंद्र का औचित्य विचार स्पष्ट करते हुए औचित्य के भेदों का परिचय दीजिए।
13. अन्य सिद्धांतों के संदर्भ में औचित्य सिद्धांत का महत्व स्पष्ट कीजिए।
14. रीति और गुण का परस्पर संबंध स्पष्ट कीजिए।
15. टिप्पणियाँ

    1. करूण रस की आस्वाद्यता
    2. वर्तमान संदर्भ में रससिद्धांत की प्रासंगिकता
    3. अलंकार और रस
    4. काव्य में अलंकार का स्थान
    5. रीति के विविध पर्याय
    6. रीति और शैली
    7. शब्दशक्ति

8. ध्वनि सिद्धांत का महत्व

9. कुंतकपर्व वक्रोक्ति विचार

10. साधारणीकरण

**पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं आलोचना**

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विकासक्रम का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. अनुकरण के संबंध में प्लेटो और अरस्तू के विचारों का तुलनात्मक परिचय दीजिए।
3. विरेचन सिद्धांत की अलग - अलग व्याख्याएँ प्रस्तुत किजिए।
4. उदात्त सिद्धांत का स्वरूप स्पष्ट करते हुए काव्य में उदात्त का महत्व विशद किजिए।
5. उदात्त के अंतरंग और बहिरंग तत्वों पर प्रकाश डालिए।
6. यथार्थ का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यथार्थवाद के भेदों का परिचय दीजिए।
7. क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का स्वरूप स्पष्ट कर अभिव्यंजना और कला का संबंध विशद किजिए।
8. क्रोचे की कला विषयक धारणाओं पर प्रकाश डालिए।
9. संप्रेषण सिद्धांत का स्वरूप तथा महत्व समझाइए।
10. इलिएट के निर्वैयक्तिकता सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।
11. संरचनावाद का स्वरूप समझाते हुए उसका महत्व स्पष्ट किजिए।
12. आलोचना का स्वरूप समझाते हुए उसका महत्व स्पष्ट किजिए।
13. आलोचना की विभिन्न प्रणालियों पर प्रकाश डालिए।
14. बिंबों के प्रकारों का परिचय दीजिए।
15. टिप्पणीयाँ

    1. उदात्त के विरोधी तत्व
    2. अंतःप्रज्ञा और अभिव्यंजना का नित्यसंबंध
    3. अभिव्यंजना और कला का संबंध
    4. प्रतीकों का वर्गीकरण
    5. बिंब का अर्थ और प्रयोग
    6. बिंब और प्रतीक की तुलना

7. निर्वैयक्तिकता की धारणा और साधारणीकरण : तुलना

8. आलोचक के गुण

9. आलोचना का उद्देश्य

10. आलोचना और अनुसंधान

## संदर्भग्रंथ


1. भारतीय साहित्यशास्त्र खंड 1 और 2 आ. बलदेव उपाध्याय।
2. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत भाग - 1 और भाग - 2, डॉ. गोविंद त्रिगुणायत।
3. काव्यशास्त्र - डॉ. भगीरथ मिश्र
4. रीतिकाव्य की भूमिका - डॉ. नगेंद्र
5. साहित्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धांत - डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी
6. भारतीय काव्यशास्त्र - डॉ. उदयभानू सिंह
7. भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांत - डॉ. कृष्णदेव शर्मा
8. भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांत - डॉ. कृष्णदेव झारी
9. रस - मीमांसा - आचार्य रामचंद्र शुक्ल
10. ध्वनि संप्रदाय और इसके सिद्धांत - डॉ. बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'
11. रस सिद्धांत : स्वरूप और विश्लेषण - डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षीत
12. औचित्य विमर्श - डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी
13. पाश्चात्य काव्यशास्त्र - डॉ. देवेंद्रनाथ शर्मा
14. समीक्षालोक - डॉ. भगीरथ दीक्षित
15. पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांत - डॉ. कृष्णदेव शर्मा
16. पाश्चात्य का काव्यशास्त्र - डॉ. रामपूजन तिवारी
17. अरस्तू का काव्यशास्त्र - डॉ. नगेंद्र
18. उदात्त के विषय में - डॉ. निर्मला जैन

19. रिचर्डस के आलोचना सिद्धांत - डॉ. शंभुदत्त झा

20. टी. एस. इलियट के आलोचना सिद्धांत - डॉ. शिवमूर्ति पांडेय

21. हिंदी आलोचना - उद्भव और विकास - डॉ. भगवत्स्वरूप मिश्र

22. आलोचना के बदलते मानदंड और हिंदी साहित्य - डॉ. शिवचरण सिंह

23. हिंदी आलोचना विकास एवं प्रवृत्तियाँ, डॉ. पशुपतिनाथ उपाध्याय